समाजशास्त्रीय हिन्दी समीक्षा

बुन्देलखण्ड विश्वविद्यालय, झाँसी

की

पी–एच० डी० उपाधि हेतु

हिन्दी विषय में

प्रस्तुत

शोध–प्रबन्ध

शोध निर्देशक :

डॉ० एन० डी० समाधिया,

पी–एच०डी०, डी०लिट्०,

प्राचार्य

दयानन्द वैदिक स्नातकोत्तर महाविद्यालय,
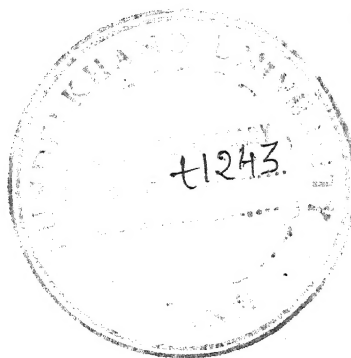
उरई, जालौन

अनुसंधित्सु :

नत्थू सिंह सेंगर

एम०ए० (हिन्दी), एम०एड०

राजेन्द्र नगर उरई,

जालौन

2002

डॉ० एन० डी० समाधिया
(पी-एच०डी०,डी०लिट्०)
प्राचार्य
दयानन्द वैदिक स्नातकोत्तर महाविद्यालय, उरई, जालौन
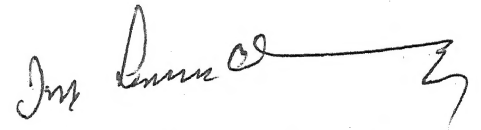
दूरभाष : 55492 आवास
: 52214 आफिस

प्रमाण-पत्र

प्रमाणित किया जाता है कि अनुसंधित्सु **श्री नत्थू सिंह सेंगर** ने 200 दिनों से अधिक अवधि तक उपस्थित रहकर मेरे निर्देशन में **"समाजशास्त्रीय हिन्दी समीक्षा"** शोध प्रबन्ध पूर्ण किया है। इन्होंने विश्वविद्यालयीन शोध परिनियमावली के समस्त उपबन्धों की पूर्ति की है।

मैं इस मौलिक शोध प्रबन्ध को शोध विशेषज्ञों के समक्ष परीक्षार्थ प्रस्तुत करने की अनुशंसा करता हूँ।

(एन०डी० समाधिया)

शीर्षक : समाजशास्त्रीय हिन्दी समीक्षा

भूमिका :

समकालीन हिन्दी समीक्षा की विविध स्थितियाँ नहीं हैं समीक्षा विधा पर चले आ रहे प्रतिवाद के संघर्ष में समाजशास्त्रीय जनवादी प्रतिबद्ध समीक्षा का वैज्ञानिक एवं तर्क संगत महत्व है। इसमें सैद्धान्तिक समीक्षा के प्रतिमानों की स्थापना का प्रयास न होकर समाजवादी संरचनात्मक नये प्रयोग सम्मिलित है। आज ज्ञान विज्ञान की प्रगतिमूलक संपन्नता के कारण समाजशास्त्रीय नवीन तत्वों का आर्विभाव हुआ है। समाजशास्त्रीय समीक्षा ने अपने को प्रगति और परम्परा से एक साथ जोड़ा है। इसमें विध्वंश के स्थान पर सृजनात्मक, विकल्प को सामने लाने की प्रक्रिया भी है। हिन्दी साहित्य में व्याप्त शास्त्रीय समीक्षा के मानदण्डों को व्यवहारिक रूपवादी नये प्रतिमानों से समाजशास्त्रीय समीक्षा पद्धति ने सजाया सँवारा है। यह पद्धति अतिवादी न होकर विकासमान चरणों की अन्तः तलाश है।

प्रस्तुत शोध प्रबन्ध के प्रथम अध्याय के अन्तर्गत विषय प्रवेश के चार उपखण्ड बनाये गये हैं जिनमें क्रमशः समाजशास्त्रीय समीक्षा का स्वरूप, समाजशास्त्रीय समीक्षा के विभिन्न मानदण्ड, हिन्दी समीक्षा के बदलते मानदण्ड और समाजशास्त्रीय हिन्दी समीक्षा की परिधि एवं दिशाओं पर विस्तृत विवेचन किया गया है। प्रबन्ध के द्वितीय अध्याय में समाजशास्त्रीय हिन्दी समीक्षा के मूल स्त्रोत एवं परिवर्ती प्रभाव को रेखांकित किया गया है। वस्तुतः आज सारे विश्व में

समाजवादी जनचेतना ने अपना स्वरूप नये–नये आयामों में धारण कर लिया है। फलतः पाश्चात्य एवं भारतीय समाजशास्त्रीय चिन्तकों ने नवीन उन्मेष के साथ साहित्यगत नवीन समीक्षा की अवधारणा को प्रतिपादित किया है। इस अध्याय में क्रमशः पाश्चात्य एवं भारतीय तत्ववादी चिन्तकों की मूल अवधारणा सन्निहित है।

शोध प्रबन्ध के तृतीय अध्याय में समाजशास्त्रीय हिन्दी समीक्षकों का संक्षिप्त परिचय दिया गया है। इन हिन्दी समाजशास्त्रीय समीक्षकों के नाम इस प्रकार हैं :–

1. डॉ० राम विलाश शर्मा
2. श्री शिवदान सिंह चौहान
3. प्रो० प्रकाशचन्द्र गुप्त
4. श्री अमृतराय
5. डॉ० भगवत शरण उपाध्याय
6. डॉ० नामवर सिंह
7. प्रो० शिवकुमार मिश्र
8. डॉ० रघुवंश
9. डॉ० मन्मथ नाथ गुप्त
10. चंचल सिंह चौहान
11. कर्ण सिंह चौहान
12. कान्ती मोहन
13. राजकुमार सैनी
14. सुधीश पचौरी
15. विमल वर्मा
16. रमेश उपाध्याय
17. भैरव प्रसाद गुप्त

समाजशास्त्रीय हिन्दी समीक्षक एवं जनवादी हिन्दी समीक्षक एक ही सोच एवं चिन्तन संवेदना के अग्रणी आलोचक है अतः इस अध्याय में हिन्दी साहित्य की समाजशास्त्रीय विचारधारा और समग्रता साहित्य के अन्तः सम्बन्ध की तलाश के क्रान्तिदर्शी आलोचकों को सम्मिलित किया गया है। चतुर्थ अध्याय, पंचम, षष्ठ एवं सप्तम अध्यायों में इन्ही समाजशास्त्रीय जनवादी हिन्दी समीक्षकों

के समीक्षा साहित्य और उनके समीक्षा दर्शन की शोधपरक विवेचना की गयी है। जिसमें समाजशास्त्रीय हिन्दी समीक्षा के स्वरूप को और उसकी परिधि दिशा को विश्लेषित करना अपेक्षणीय रहा है।

प्रस्तावित शोध प्रबन्ध के उपसंहार में समाजशास्त्रीय हिन्दी समीक्षा की युगचेतनापरक दिशा एवं दशा का अभिव्यंजन किया गया है। ताकि युग चेतना के परिप्रेक्ष्य में आज के चिन्तन को अभिनव समाजशास्त्रीय दिशा का पथ पाथेय निर्दिष्ट हो सके। साहित्यिक संदर्भो में इसका तात्पर्य यह है कि कोई भी विचारधारा व्यवस्था सापेक्ष के गतिमान रहती है और यह व्यवस्था सामाजिक परिप्रेक्ष्य में व्यक्ति की सोच एवं संवेदना को मथती रहती है।

प्रस्तुत शोध प्रबन्ध के लेखन की प्रेरणा मुझे मेरी धर्मपत्नी श्रीमती बीना सेंगर से मिली है वस्तुतः श्रीमती बीना विगत एक दशक पूर्व पी0एच–डी0 की शोध छात्रा रही थीं किन्तु वह पारिवारिक व्यस्तताओं के कारण अपेक्षित कार्य सम्पन्न न कर सकी फिर उन्हीं की प्रेरणा से मैने संकल्पवद्ध होकर श्रद्वेय गुरूवर **डॉ० एन०डी० समाधिया,** डी0लिट्0 (प्राचार्य) के आशीर्वाद से शोध कार्य करने की मन में ठान ली जिसका प्रस्तुत साकार रूप उन्हीं के आशीर्वाद का प्रतिफल मानकर मैं उन्हें नमन करता हूँ। इस पुनीत कार्य में सर्वाधिक प्रेरणा एवं उत्साह वर्धन **श्रीमती शीला समाधिया** एवं उनकी सुपुत्री **कुमारी दिव्या समाधिया** ने किया इन्होंने मुझे अनवरत जाग्रत कर कार्य पूर्ण करने हेतु परिश्रम करने पर बल दिया, मैं उन्हीं का आशीर्वाद मानकर शतशत् बार उनका अभिनन्दन एवं नमन करता हूँ।

मेरे शोध कार्य में मेरे मित्र **श्री महेन्द्र प्रताप चतुर्वेदी,** डिग्री कालेज बरूआसार; **श्री शम्भूदयाल कनौजिया** गांधी महा0 विद्यालय, उरई एवं **श्री विनोद कुमार व्यास** (एडवोकेट), उरई का सहयोग महत्वपूर्ण एवं अविस्मरणीय है।

श्रीमती बीना सेंगर की स्नेही **श्रीमती अर्चना विश्नोई** ने समय–समय पर मेरे शोध कार्य को गति प्रदान की एवं नवीन दिशा की ओर अग्रसर किया है।
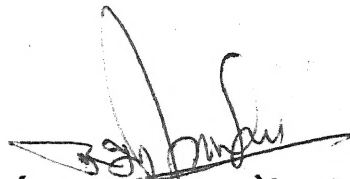
श्री गांधी इण्टर कालेज, गढ़गवाँ (जालौन) प्रबन्ध तंत्र के पदाधिकारीगण एवं प्रबन्धक **श्री राजपाल सिंह भदौरिया** एवं प्रधानाचार्य **श्री प्रेमबहादुर श्रीवास्तव** तथा वरिष्ठ प्रवक्ता **श्री भरत लाल समाधिया,** जो भी हमारे इस कार्य को प्रेरित करते रहे हैं उन सभी को मैं धन्यवाद ज्ञापित करता हूँ। प्रधान लिपिक **श्री श्रीगोविन्द दीक्षितजी** ने इस शोध प्रबन्ध को पूर्ण करने एवं जीवन शैली को विशुद्ध रूप से परिष्कृत करने में मेरे आत्मबल एवं उत्साह में समय–समय पर दृढ़ता प्रदान की है और मेरे पूज्य पिताजी **स्व० श्री हनुमन्त सिंह** के सपनों को साकार किया। श्री दीक्षित जी के चिरस्मरणीय दिशा निर्देशन ने पूज्य पिता जी के अभाव को खटकने नही दिया। मैं श्री दीक्षित जी के चरणों में शतशत बार नमन करता हूँ।

मेरी जन्मभूमि शेखपुर बुजुर्ग के निवासी मेरे अजीज मित्र **श्री सामन्त सिंह, श्री भगवान सिंह** एवं **श्री नत्थू सिंह सेंगर,** (अध्यापक) तथा भाई **श्री रामसजीवन सिंह** एवं **डॉ० राजवीर सिंह,** अनिल सेंगर एवं **श्री ओमनारायण चतुर्वेदी** एवं विरेन्द्र सिंह

का आत्मीय सहयोग और प्रेरणा के लिए मैं धन्यवाद ज्ञापित करता हूँ। इन सभी सुहृद जनों ने शोध कार्य को पूर्ण करने हेतु कई बार स्मरण कराया और जगाया तथा लगातार टोका टाकी के बीच यह वृहद् शोध प्रबन्ध अल्प समय में पूर्ण हुआ मैं उन सभी से उपकृत हूँ।

जिन महानुभावों ने मेरे इस कार्य में प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से सहयोग प्रदान किया है इस स्तर पर मैं उन सभी का धन्यवाद ज्ञापित करता हूँ और वे भी ***'जे बिन काज दाहिने बायें'*** उनको भी स्मरण करते हुए उनकी सद्बुद्धि के लिए ईश्वर से प्रार्थना करता हूँ और उनकी कृतघ्नता के परिपार्श्व में कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ।

अन्त में मैं अपनी सृजना का यह प्रथम पुष्प पूज्यनीया अपनी माता जी **श्रीमती रामप्यारी देवी** के चरणों में समर्पित करता हूँ और उनकी ममतामयी उल्लिसित बूढ़ी आँखें सदैव ही मुझे आशीर्वाद युक्त आत्मशक्ति का संबल प्रदान करती रहीं हैं यह सब उन्हीं की कृपा एवं आशीर्वाद का फल है।

(एन0 एस0 सेंगर)

अनुक्रमणिका

शीर्षक :- समाजशास्त्रीय हिन्दी समीक्षा

* * *

प्रथम अध्याय

(क) समाजशास्त्रीय समीक्षा का स्वरूप-भारतीय एवं पाश्चात्य मत

समाजशास्त्रीय समीक्षा ने अल्प समय में ही एक चतुर्मुखी जागरूकता का परिचय दिया है सौन्दर्यशास्त्रीय चिन्तन में समाजशास्त्रीय समीक्षकों की वस्तुगत स्थापना विचारणीय है। उन्होंने साहित्य में हवाई लफ्फाजी पसन्द न करके जनता को ठोस चिन्तन की ओर उन्मुख किया है। साहित्यकार के लिए दो चीजें आवश्यक हैं—एक तो सामाजिक यथार्थ, जिसका वह चित्रण करता है, दूसरा समाज का साहित्य से गहरा सम्बन्ध, जिसमें वह वास्तविकतान्वेषी होता है। विज्ञान की तरह साहित्य भी सत्य की उपलब्धि का साधन है। श्री शिवदान सिंह चौहान ने साहित्य सौन्दर्य के स्थाई मानों के लिए युग—चेतना की एक दलील पेश की है—सामाजिक जीवन और उससे उद्वेलित तथा प्रभावित क्रांति के जीवन द्वन्दों में जो कवि जितना गहरा पैठ सका है, उतना ही मर्मस्पर्शी और प्रभावशाली साहित्य रचता है। सत्य, शिव और सुन्दर की आराधना को शाश्वत कहा जाता है, इनके अधिकाधिक विकसित मान समाज और कला में मिलते हैं। प्रो0 प्रकाशचन्द्र गुप्त ने मानवीय सम्बन्ध का स्वरूप सौन्दर्यमण्डित कला साहित्य में प्रतिबिम्बत माना है। साहित्य सदैव ही सामाजिक जीवन को अंकित करता है, मानवीय अनुभूतियों, भावनाओं और संवेदनाओं को स्वर देता है। साहित्य में मनुष्य के सौन्दर्य बोध को स्वीकार नहीं करते, जिसका प्रभाव नितान्त वैयक्तिक अथवा असामाजिक है। श्रेष्ठ कला का निर्णय अन्ततः

इस बात पर निर्भर करता है कि कलाकार ने कितनी गहरी जीवन दृष्टि उसमें प्रदत्त की है। साहित्यिक अथवा कलात्मक सौन्दर्य बोध सांस्कृतिक मूल्यों के देशकाल और जनजीवन की बदलती हुई परिस्थितियों का सापेक्ष होता है। सौन्दर्य की अनुभूति मनुष्य के जैविक विकास के साथ ही विकसित हुई है और वह लगातार विकासोन्मुख है।

डॉ0 रामविलास शर्मा ने प्रगति और प्रतिक्रिया के पहलुओं को समझने के लिए अतीत के सांस्कृतिक विवेचन के मूल्यांकन को अनिवार्य बताया है। साहित्य का मूल्यांकन सामाजिक संघर्ष की पृष्ठभूमि में होना चाहिए। तभी प्राचीन साहित्य का और आज के साहित्य का, सामाजिक संघर्ष की पृष्ठभूमि में योग हो सकेगा। साहित्य रचना एक सामाजिक क्रिया है, जो मनुष्य के मन पर अपना प्रभाव छोड़ती है। डॉ0 शर्मा का मन्तव्य है कि साहित्य का पौधा वर्तमान की धरती पर उगता है, लेकिन उसकी जड़ें अतीत के गर्भ में फैली होती हैं।

युग–युग की परम्परा का प्रभाव सुदूर वर्तमान तक रहता है। बिना किसी अन्धविश्वास, प्रतिवाद के या छिद्रान्वेषण के मनुष्य इस सनातन को सहजभाव से स्वीकार करता आया है। अतीत से लेकर वर्तमान तक साहित्यिक मनीषियों के महान मानवतावादी सूत्र को कलात्मक प्रतिष्ठा मिली है। शिवदान सिंह चौहान ने द्वन्द्वात्मक पद्धति स्वीकारते हुए, सामाजिकता एवं अतीत को जनवादी मार्ग की ओर मुखातिब बताया है। सामाजिक जीवन की परिस्थितियाँ ही साहित्यकार की चेतना का निर्माण करतीं हैं। अतीत से लेकर वर्तमान तक का

यह ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य इसका साक्षी है। अमृतराय साहित्य की ऐतिहासिक व्याख्या करते हुए समाज और साहित्य के अन्योन्याश्रय तथा गतिशील सम्बन्ध का उद्घाटन करते हैं। सामाजिक–मर्यादाओं से अपने को मुक्त समझकर भी कलाकार अपना संतुलन स्थापित नहीं कर सकता, उसे इसी कारण वर्तमान के क्षुब्ध परिवेश से हटकर अतीत के गौरव का स्मरण करना पड़ता है। डॉ0 रांगेय राघव ने अतीत के साहित्य में अभावात्मक जीवन को पाया तथा वर्तमान लेखन में जनवादी चेतना का समाजवादी स्वरूप मूल्यांकित किया है।

साहित्यिक अपने युग के परिवेश को अपने साहित्य में व्यक्त करता है। साहित्य में जनजीवन चेतना का सत्य तथा साहित्य सौन्दर्य में शिव का विशेष महत्व रहा है। डॉ0 शर्मा जायसी और सूर के समाज व्यापी साहित्य का वर्णन इसी दृष्टि से करते हैं। शिवदान सिंह चौहान ने कबीर का उदाहरण देकर उनके युग चित्रण का तथा युगावतारी साहित्य सौन्दर्य का समायोजन प्रस्तुत किया है।

सापेक्ष रूप से साहित्य के मूल्य स्थाई हों। प्रो0 प्रकाश चन्द्र गुप्त ने युग परिस्थिति तथा हिन्दी के प्राचीन कवि तुलसी के साहित्य सौन्दर्य का विवेचन इसी दृष्टि से किया है। तुलसी के साहित्य सौन्दर्य के मूल्यांकन में उस युग की ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक पृष्ठभूमि पर दृष्टि डालना आवश्यक है। तुलसी के युग में भारतीय जनता की भावनाओं का दर्पण तुलसी का साहित्य है। युगीन साहित्य में काल विशेष की सामाजिक परिस्थिति और उसके कला सृजन

में एक अन्तरंग सम्बन्ध है। इस दृष्टि से नये से नये प्रतिमान के लिए सबसे बड़ी चुनौती परिवेशाात्मक युग स्वर है, जो साहित्य सौन्दर्य के वास्तविक मूल्यांकन में सम्पुष्ट बना रहता है। यथार्थ के नये बोध और सम्वेदन (सौन्दर्य बोध) के लिए नई दृष्टि आज क्रान्तिकारी विचारधाराओं से प्राप्त हो सकती है। ये क्रान्तिकारी विचार उस सामाजिक विचार संघर्ष को अभिव्यक्त करते हैं जो संक्रमणकाल में पुरातन जीवन मूल्यों के विरूद्ध नवोदित मानवीय जीवन मूल्यों के दुर्द्धर्ष संघर्ष को प्रतिफलित करता है।

राजनीति और संस्कृति विरोधी विचारणा नहीं है। वे सामयिक तरीके से जनतन्त्र तथा लोक मानवता की पूरक हैं। जनवादी राजनीति में लोक संस्कृति को कोई खतरा नहीं है। डॉ0 शर्मा ने लिखा है–'सर्वहारा संस्कृति मनुष्य के पूर्व संचित ज्ञान को आगे बढ़ाकर फल–फूल सकती है। साहित्य उन सांस्कृतिक मूल्यों को विकसित कर रहा है, जिनका सामयिक महत्व है साथ ही सामाजिक आधार भी है। साहित्य के इतिहास को समस्या के प्रसंग में कला–संस्कृति और दर्शन आदि का विशिष्ट अध्ययन आवश्यक है। प्रो0 चौहान ने सांस्कृतिक विवेचना की साहित्य के इतिहास में खोज करके सांस्कृतिक विरासत भारतेन्दु युग से ही मानी है। नवीन साहित्य और कला ने परम्परा की श्रृंखलायें तोड़कर एवं नये दृष्टिकोण और विचार–शैली को अपनाया। भारतीय समाज के जागरण काल में यह संस्कृति की यात्रा का एक पग–चिन्ह है। इस सांस्कृतिक आन्दोलन के भार से भारतीय मजदूर तथा किसान वर्ग में एक जागृत चेतना आई है।

सांस्कृतिक संघर्ष में जो शक्तियाँ आज बल पकड़ रहीं हैं, परिणामतः सामयिकता और संस्कृति और जनजीवन की द्वन्द्वात्मक सृष्टि है। श्री अमृतराय ने कलाकार की स्थिति को परिस्थिति सापेक्ष बताया है। हमारी संस्कृति और साहित्य की परम्परा में आज ऐसी स्थिति आ गयी है कि कुछ महत्वपूर्ण व्यक्तियों (प्रतिभा सम्पन्न) के गुटों, दलों के स्वार्थों के संघर्ष में यह विश्रंखलित हो रहीं हैं, जिससे मानवीय मूल्यों का विघटन अनिवार्य हो गया है। सांस्कृतिक सौन्दर्य, विकासशील नये मानव की सौन्दर्य चेतना के विकास को साहित्यगत सामयिकता के तादात्म्य कर अभिव्यक्त करता है। हमारी सांस्कृतिक परम्परा आज के निर्माण में दृढ़ नींव होगी। उससे हटकर हम अपने साहित्य और कला का आधुनिक भवन नहीं बना सकते। हम इस परम्परा का ऐतिहासिक दृष्टि से मूल्यांकन नहीं करते हैं तो वह उत्तराधिकार परक मूल्यों को विकृत कर देगा।

परिवेश साहित्य का पौधा सामाजिक जीवन से उगता है तथा सामयिकता के झंकृत झन्कारों से पाठकों की चेतना को झकझोरता एवं परम्परा प्रगति के पारस्परिक समन्वय के फल प्रदान करता हैं। डॉ0 शर्मा का कथन ध्यातव्य है–''प्रगतिशील साहित्य जनता की तरफदारी करने वाला साहित्य है। इसलिए वह उसकी जातीय विरासत और उसकी साहित्यिक परम्पराओं की रक्षा करने के लिए भी लड़ता है।'' राष्ट्र में संघर्ष एवं संक्रान्ति का युग आता है, तब परम्परावादी साहित्यकार अपनी प्राचीन संस्कृति और इतिहास की ओर उन्मुख होता है तथा प्रगतिशील (प्रोग्रेसिव) समकालीन जीवन की क्रान्तिजनक खींचातानी (संघर्षो) से कतराते नहीं है। बल्कि जनवाद की रूपरेखा और मानव–मूल्यों की

पीठिका पर खींचकर व्यक्ति तथा समाज के जीवन में सामन्जस्य तथा संतुलन बनाये रखते हैं। वह मानव इतिहास के इस प्राणवन्त स्थाई तत्वों को सामने लाकर हमारे लक्ष्य को अधिक मूर्तस्य और दृष्टिपथ को विस्तार तथा व्यापकत्व देते हैं। प्रो0 चौहान लेखक के सामाजिक सूत्रों के प्रकाश एवं परम्परा के समन्वयात्मक ढाचे पर बल देते हैं। प्रगतिवाद की विचारधारा उन्हीं परिस्थितिजन्य अपीलों के समान हैं, जैसे कि प्राचीन परम्पराओं और प्रभाओं का सुदूर वर्तमान तक अस्तित्व है। प्रो0 प्रकाश चन्द्र गुप्त का अभिप्राय साहित्यिक मानों की संकीर्णता, रूढ़िग्रस्तता प्रगतिशील जीवन सापेक्षता के समन्वयात्मक ढंग की ओर संकेत करता है। वे लिखते हैं–''जब हम किसी कलाकार की युगान्तकारी कृति अपने रूढ़िवादी अधपके विचारों से जांचते हैं तो इतिहास को यादकर हमें कुछ रूकना चाहिए। संस्कृति की पारस्परिक रूपरेखा सामयिक साहित्य में युग–विशेष और समाज विशेष के अनुकूल ढल जाया करती है। डॉ0 मन्मथ नाथ गुप्त ने प्रगतिशीलता की भावी सम्भावनाओं पर प्रकाश डालते हुए अतीत के वैभव का स्मरण बनाये रखा है।

सामाजिक परिवर्तन और राष्ट्रीय निर्माण के महान उद्देश्य से प्रेरित साहित्यकार ही अपनी परम्परा के अनुकूल महान साहित्य की रचना कर सकते हैं। राष्ट्रीयता की रक्षा साहित्यकार तब कर सकेगा जब उसमें गुणात्मक निधि होगी। राष्ट्रीय भाव या स्वाधीन परक चिन्तन को सभी की प्रगति के लिए बराबर हामी भरने वाला बताया है। हमारे देश में जनवादी ढंग से समाजवाद की स्थापना को अपने राष्ट्र का लक्ष्य बनाया गया है। प्रो0 चौहान ने

जनवादी आन्दोलन के मध्य सामयिक राष्ट्रीयता पर विचार प्रकट किया है कि साहित्य के सम्बन्ध में 'राष्ट्रीय' शब्द का प्रयोग हिन्दी के इतिहासकारों ने भी किया है, किन्तु संकुचित अर्थ में है। सन् 1920 से 1942 के बीच जो राष्ट्रीय आन्दोलन मुख्य था उससे सम्बन्धित या उससे प्रतिबिम्बित करने वाले साहित्य को ही राष्ट्रीय कहा जाता है। वस्तुतः हमारे देश में राष्ट्रीय एकता की भावना मध्ययुग के अन्त में और सांस्कृतिक पुनः निर्माण के आरम्भ में लक्षित हुई। सामाजिक जीवन का वैषम्य उच्चवंशीय और नीच जातियों का आन्तरिक द्वन्द्व अर्थात् उस युग का वर्ग संघर्ष जनसाधारण की लोकचेतना में व्याप्त हो रहा था। तबसे आधुनिक पर्यन्त राष्ट्रीय भावना की जागृति से कला और साहित्य में फिर एक उन्मेग आया, जिससे देश में स्वातन्त्रय विविध भाषाओं का साहित्य और कलागत सर्वतोन्मुखी विकास–धारा का पल्लवन हुआ।

समसामयिक साहित्य में राष्ट्रीय उल्लास–पंक्ति पंक्ति में फूट पड़ता है। समग्र नयी काव्यधारा मूल भाव में राष्ट्रीयता की गूंज है। प्रगतिवादी समीक्षक डॉ0 रघुवंश का यह कथन मार्क्सवादी चेतना के अनुभव हैं–"इस प्रकार यह वर्ग भारत की नवोदित राष्ट्रीय चेतना को सुधारवादी आन्दोलन के रूप में जगा रहा था, जिसका एक ध्येय यह भी था कि क्षितिज सम्प्रदाय के दृष्टिकोण का सुधार करके उसे स्वदेश के गौरव की भावना से भरा जाये"।

साहित्य के जातीय रूप और उसकी जातीय विशेषताओं की रक्षा संकुचित राष्ट्रवाद की भावनाओं से नहीं हो सकती। मुन्शी प्रेमचन्द और निराला

जैसे साहित्यकारों ने अपने देश और साहित्य की विशेषताओं की विचारधारा के अन्तः सम्बन्ध के संदर्भ में समाकलित किया है। इसी अन्तर्राष्ट्रीयता का निर्वाह करते हुए प्रगतिशील साहित्यिक विश्वशांति और स्वाधीनता के लिए लड़ने वाली जनता का साथ दे रहे हैं। डॉ0 शर्मा ने अन्तः धारा को पहचानते हुए लिखा कि प्रगतिशील साहित्य न केवल अपनी जनता की स्वाधीनता के आन्दोलन का समर्थक था, वह साम्राज्यवाद से मुक्ति पाने के लिए लड़ने वाले अन्य देशों के स्वाधीनता आन्दोलनों का भी समर्थक था। मार्क्सवादी विचारधारा मानव जीवन तथा संस्कृति को समझने में सहायक है। यह सतत् विकासमान विचार दर्शन और वैज्ञानिक दृष्टि है। प्रो0 प्रकाश चन्द्र गुप्त का अभिमत है–मनुष्य की विचारधारायें, भावनायें और अनुभूतियाँ वस्तुस्थिति से प्रभावित होती हैं। हमारा जनजीवन भले ही संसार व्यापी मानव–मूल्यों के संकट उनकी संक्रान्ति और नये मूल्यों के अन्वेषण की छटपटाहट से अपरिचित रहा है, पर उद्बुद्ध साहित्यकार जनमानस की विचारधारा से जागरूक तथा सम्वेदनशील रहा है।

प्रगतिशील साहित्य शोषण का विरोध करता है। शोषण केवल आर्थिक ही नहीं, उसके विभिन्न रूप हैं। वह मानसिक भी होता है और पेट की मजबूरी से जब बुद्धि को बेचना पड़ता है, तब कला का ह्रास प्रारम्भ होता है। प्रगतिशील साहित्य का ध्येय जनकल्याण है। वह मनुष्य की जीवन का सर्वांगीण चित्रण करते हुए श्रेष्ठ कला को जन्म देता है। मार्क्स ने अपनी विचारधारा की एक नयी संकल्पना उपस्थित की जो आदि युग से लेकर आज तक मानव चेतना के भावबोध की विकसित और गुणावतरित चिन्ता धारा है। यह विचारधारा पदार्थ

और चेतना, मानव और प्रकृति, स्थूल और सूक्ष्म, विश्लेषण और संश्लेषण करने वाले दर्शन पर आधृत है।

साहित्य को समग्र भारतीय जीवन के सांस्कृतिक एवं सामाजिक विविधता की दृष्टि पर समाकलित करना होगा। जनवादी सौन्दर्य दृष्टि के प्रगतिशील साहित्यिक यही रूपरेखा निर्धारित करते हैं, अन्य समाजवादी हिन्दी समीक्षक श्री चन्द्रबली सिंह, डॉ0 शिवकुमार मिश्र, विशम्भर नाथ उपाध्याय आदि ने इसी तथ्य की पुष्टि की है। उन्होंने यथार्थवाद सम्बन्धी इतर दृष्टियों के संदर्भ में कटु आलोचना करते हुए समाजवादी यथार्थवाद को स्वस्थ तथा उच्चतर भूमि पर विस्तृत प्रभाव डाला है। आधुनिकता एवं नवीनता के नाम पर आधुनिक हिन्दी साहित्य में पनपने वाली क्षयशील जीवन दृष्टि का डॉ0 मिश्र ने डटकर विरोध किया है। रचनाकार की कल्याण कामना जनवादी सर्वहारा वर्ग के लिए समर्पित होने के कारण सोद्देश्यपरक होती है। साहित्य का प्रयास उद्देश्यपरक है और यदि कवि भी मनुष्य के उचित स्थान को प्रतिष्ठित करने के पुण्य कार्य में हिस्सा बंटाए तो निश्चित ही शक्तिमान और प्रेरक होता है। इस प्रकार लोक दृष्टि और हिन्दी साहित्य कृति में मार्क्सवादी द्वन्द्वात्मक प्रकृति घर कर चुकी है।

समाजशास्त्रीय प्रगतिवादी, मार्क्सवादी हिन्दी समीक्षकों का सम्प्रति एक ऐसा वर्ग है जो जनवादी समीक्षा के नाम से बुर्जुआवादी समीक्षकों के प्रति आरोप प्रत्यारोप करते हुए आक्रोश व्यक्त कर रहे हैं। यद्यपि इसके नये चिन्तन की कुछेक दिशायें सम्भावनापूर्ण हैं, ऐसे प्रमुख क्रान्तिकारी विचारक हैं–चंचल

चौहान, कर्णसिंह चौहान, सुधीश पचौरी, क्रान्तिमोहन, विमल वर्मा, ओम प्रकाश अग्रवाल और डॉ0 समाधिया आदि। इन विचारकों के अधिकांश मन्तव्य समसामयिक पत्रिकाओं में समय–समय पर प्रकाशित होते रहते हैं। चूंकि प्रगतिवादी जनवादी विचारात्मकता का सन्निहित नया आयाम बहुबिध रूप से साठोत्तरी समीक्षा विधा में अभिव्यंजित हो रहा है। हिन्दी साहित्य के साठोत्तरी दौर के समय भारतीय समाज के शोधक वर्ग का राजनीतिक, आर्थिक तथा सांस्कृतिक संघर्ष बहुत गहरा होता गया है। अमेरिका से सड़ा हुआ गेहूँ और सड़ी हुई विचार परम्परायें देश में फैलने लगीं है। भारत–चीन संघर्ष ने शोषित वर्ग की विचारधारा पर कड़े पहरे लगा दिये। एक दशक के बाद सांस्कृतिक शून्यता इतनी बढ़ी की पूंजीवादी अर्थ व्यवस्था चरमरा गई, कहीं देश अमेरिका का मुँह ताकने लगा, फिर जनता पार्टी लहर खतम होने के बाद रूस से गठबन्धन करने को अग्रसर हो गया। आज आतंकवाद नें सामंती और पूंजीवादी अर्थव्यवस्था का प्रश्रय लेकर देश में हल–चल मचा रखी है। निःसंदेह यह सब पूंजीवादी देशों की भारत के प्रति साजिस है।

परिणाम स्वरूप कविता के क्षेत्र में अकविता, समानान्तर कविता, कहानी के क्षेत्र में नई कहानी, अकहानी, चेतन कहानी, अचेतन कहानी, समान्तर कहानी और हाँ समीक्षा के क्षेत्र में नयी समीक्षा का उदय इसी ह्रास का प्रतिफलन है।

हिन्दी समीक्षा उत्तरोत्तर विकसित होकर साहित्यान्तर्गत सामाजिक तत्वों पर जोर देने लगी है। समाज के बदलते मूल्य साहित्य स्वरूप को बदलने में सहायक बने। समाजवादी साहित्यकारों ने आधुनिक युग चेतना के प्रवाह में नवीन साहित्य का सृजन और प्राचीन साहित्य का मूल्यांकन किया। वस्तुतः जब किसी नवीन कलाकृति की अनुभव गोचर महत्ता प्रचलित सिद्धांतों द्वारा प्रतिपादित नहीं होती तब उसकी व्याख्या के लिए नये सिद्धांत की आवश्यकता होती है। आज समग्र विश्व में प्रगतिवादी चेतना ने क्रांति के स्वर में एक गूँज भर दी है जिसमें साहित्य के निकट नये धरातल की खोज में संक्रमण क्रिया से आपूरित है। समाज साहित्य और संस्कृति में स्नात समाजशास्त्रीय समीक्षा का स्वरूप नाना रूपों में प्रकटीभूत है।

भारतीय मत :

भारतीय आचार्यो ने अपने काव्यशास्त्रीय ग्रंथों के आरम्भ में समीक्षा का साम्प्रतीक साहित्य में संस्कृत समीक्षा साहित्य का आधार लेकर ही भारतीय समीक्षा की परम्परा अक्षुण्ण बनी हुई है। डॉ0 नगेन्द्र ने लिखा है–"भारत में साहित्य शास्त्र के अथवा समीक्षा पर जो कुछ भी विचार विमर्श संस्कृत वाङ.मय के परिप्रेक्ष्य में हुआ है, वह न तो प्राकृत में, न अपभ्रंश में और न हिन्दी और न इतर देशी भाषाओं के समीक्षा साहित्य में।"[1] फिर भी आधुनिक युग चेतना के

---

[1] भारतीय समीक्षा पृ0 10

परिप्रेक्ष्य में विविध भाषाओं की सामान्य प्रवृत्तियों और उपलब्धियों की संहति भारतीय समीक्षा का स्वरूप है।

समाजशास्त्रीय हिन्दी समीक्षा के बीज संस्कृत शास्त्र के साम्प्रदायिक इतिहास में ही मिलने लगे थे लेकिन काव्यशास्त्रीय प्रतिस्पर्धा ने उन सूत्रों को उजागर न होने दिया। सामाजिक, तात्विक चर्चा रस निष्पत्ति काव्यानुभूति तथा काव्यानन्द को लेकर विवेचित हुई है। आचार्य भरत ने नाटक के सम्बन्ध में रस का हेतु बताते हुए जहां एक ओर स्वप्रकाशानन्द की अनुभूति पर बल दिया है तो दूसरी ओर लोकोत्तर चमत्कार के साथ–साथ सामाजिक मनोविज्ञान को साधरणीकरण के सम्बन्ध में भलीभांति समाजवादी मूल्यवत्ता को बल दिया।[1] इस साधारणीकरण के प्रश्न को अन्य दार्शनिकों ने नाना रूपों में देखा और समझा। इस प्रकार संस्कृत समीक्षा में समाजवादी मूल्य भरत मूनि से लेकर पण्डितराज जगन्नाथ तक साहित्यशास्त्र की क्रमिक रूपरेखा में सन्निहित रहे।

हिन्दी समीक्षा मूलतः आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी के युग से मौलिक प्रतिमानों के साथ उद्‌भावित हुई है, आचार्य द्विवेदी किसी वस्तु के अथवा विषय के सभी अंशों पर विचार करना समीक्षा मानते हैं।[2] मिश्र बन्धुओं ने मनुष्यों की साहित्यिक रूचि को समृद्ध करना साहित्य समीक्षा का अभीष्ट माना है।[3]

---

[1] नाट्यशास्त्र 3/2
[2] कालिदास और उनकी कविता, पृ0 112
[3] हिन्दी नवरत्न, पृ0 19

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल रस की अभिव्यंजना को अनिवार्य मानते हुए लोकवादी धरातल पर साहित्य समीक्षा के पक्षधर हैं।[1]

प्रगतिशील विचार–दर्शन के पक्षधर इस पक्ष पर हिन्दी प्रबुद्ध समीक्षक वैचारिक भूमि की गन्ध लेकर ठोस धरातल पर अवतरित हुए हैं, जिन्होंने नये–पुराने कलाकारों की कृतियों में बैठकर सामाजिक संवेदना को आज के संदर्भ में भलिभांति देखा है।

प्रो0 प्रकाश चन्द्र गुप्त ने समीक्षा के तहत दो पक्ष स्वीकार किये हैं–प्रथम रचनात्मक साहित्य में रूचि लेना; द्वितीय युग का सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिकविश्लेषण करना।[2] सामाजिक विचारधारा से प्रभावित साहित्यकार इसी विचारधारा को अपनाकर सृजन के कर्म में प्रवृत्त होता है और समाजशास्त्रीय समीक्षक उस रचना का समुचित विश्लेषण करने के बाद ही कृति के समाजशास्त्रीय लालित्य का सही अर्थो में समाकलन करने में सामर्थ्यवान होता है। प्रो0 गुप्त की समाजशास्त्रीय समीक्षा यान्त्रिक न होकर गत्यात्मक है। श्री शिवदान सिंह चौहान समाजशास्त्रीय समीक्षा–इतिहास में मार्क्सवादी स्थापक हैं। उन्होंने हिन्दी समीक्षा को समाजशास्त्रीय रूप देते हुए उसके स्वरूप पर प्रकाश डाला है। उनका मत है – मानव जीवन के सभी क्षेत्रों, सभी स्तरों में समाजशास्त्रीय स्वरूप को मान्य ठहराया जा सकता है।[3] सामाजिक सौन्दर्य बोध

---

[1] चिन्तामणि प्रथम भाग, पृ0 122
[2] साहित्य धारा, पृ0 56
[3] साहित्यानुशीलन, पृ0 140

का सम्यक ज्ञान करना प्रो0 चौहान की विचाधारा का रूप है। इन्होंने इस समीक्षा पद्धति के स्वरूप में दो तरह की विचारधारा को प्रयुक्त बताया है—प्रथम है प्राचीन साहित्य का मूल्यांकन उदारता के साथ, द्वितीय है मानव मूल्यों की चरितार्थता युग व्याप्ति के साथ, इसी कारण प्रगतिवादी समाजशास्त्री समीक्षक युग यथार्थ की सच्चाई तथा समस्याओं को समाज के ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में देखने के अभ्यस्त हुए।

मार्क्सवादी विचारक डॉ0 रामविलास शर्मा—समाजशास्त्रीय समीक्षा के स्वरूप निर्धारण में सदैव स्मरण बने रहे हैं। उन्होंने मार्क्सवादी धारणाओं को दृढ़ता से अपनी समीक्षा कृतियों में समाहित किया है। उनका साहित्य और समीक्षा के संदर्भ में विचार है—'साहित्य की अमर सरिता भी आर्थिक और राजनैतिक उत्पीड़न में महापर्वत को काटकर प्रवाहित की जाती है। अपनी कुदाल फेंककर इस पर्वत के नीचे बैठा हुआ साहित्यकार कल्पना की आकाश गंगा से धरती के दृश्य को सरस नहीं बना सकता है'।[1]

डॉ0 शर्मा वस्तु सौन्दर्य को महत्व प्रदान करते हैं। उन्होंने प्रगतिशील साहित्य को जनता की तरफदारी करने वाला साहित्य बताया है। इसी सोद्देश्यता के कारण प्रगतिवादी साहित्य, रूपवादी, वस्तुवादी बनकर समाजशास्त्री समीक्षा में समंजित हो उठा। साहित्यिकता की जांच के लिए वस्तुगत सौन्दर्य के प्रतिमानों का प्रयोग आज अनिवार्य हो गया है। साहित्यकला

[1] प्रगति और परम्परा, पृ0 5

जीवन का उद्घोष है तथा जीवन की सतत् जागरूकता के लिए समाजशास्त्रीय चिन्तन अनिवार्य है। प्रगतिवादी इन मुख्य समीक्षकों के अतिरिक्त अन्य साहित्य समीक्षकों ने भी अपने–अपने अभिमत प्रकट किये हैं। समाजशास्त्रीय सिद्धांत और उनका चिन्तन, मनन स्वतन्त्र रूप से बीसवीं शताब्दी में किया गया है।

हिन्दी समालोचक यशपाल, राहुल सांकृत्यायन, डॉ0 रांगेय राघव, डॉ0 भगवती शरण उपाध्याय आदि ने समाजशास्त्रीय सिद्धांत का प्रतिपादन करते हुए साहित्य समीक्षा को सामाजिक जीवन से जोड़ा है। समाजशास्त्रीय समीक्षा समर्थ सेनानी रांगेय राघव को द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद की यथेष्ट मान्यतायें स्वीकृत रही हैं।[1]

डॉ0 राघव काव्य और कला का मूल वेदना में मानकर संगीत और शुभ का परिणाम कहते हैं। उन्होंने मार्क्सवादी ऐतिहासिक दृष्टिकोंण को सीधे समाजशास्त्रीय समीक्षा में मान्य किया है। अमृत राय– 'साहित्य और समाज के सम्बन्ध को अनिवार्य रूप से स्वीकार करते हुए समाजशास्त्रीय पद्धति पर बल देते हैं। उनका मत है कि आलोच्य समीक्षक साहित्य और समाज का सम्बन्ध अन्योन्याश्रित अवश्य मानता है।'[2]

---

[1] आधुनिक हिन्दी कविता में प्रेम और श्रंगार, पृ0 7
[2] नई समीक्षा, पृ0 25

सामाजिक दृष्टिकोंण को आधार मानकर रचना करने वाले साहित्यकार समाजशास्त्रीय परिधि में ही आते हैं। मानव भावनाओं और विचारों की सुन्दर एवं सबल भाषा में अभिव्यक्ति समाजशास्त्रीय समीक्षा का प्रतिमान है।

जन–जीवन और साहित्य अभिन्न होकर अभिव्यक्ति के माध्यम से साहचर्यभाव की स्थापना करते हैं। कला के पीछे समाज चेतना को समाजवादी तभी तक मान्यता देता है जब तक कि सर्वहारा वर्ग के कथ्य को अभीष्ट माना जाता है। डॉ0 मन्मथनाथ गुप्त ने प्रगतिवादी धरातल पर समाजशास्त्रीय समीक्षा का रूप अनुशीलन किया है ''प्रगतिवाद का अर्थ वही है कि कवि *या* लेखक इरादा करके ऐसे कला या साहित्य की रचना करे जो प्रगति में हाथ बटावें यानी उद्देश्य मूलक साहित्य की रचना करे।''[1] डॉ0 नामवर सिंह – नवोद्भूति चेतना के पक्षधर हैं। उन्होंने मार्क्सवादी चिन्तन के आधार पर समाजशास्त्रीय समीक्षा के स्वरूप का निर्धारण किया है।[2]

साहित्य समाज का प्रतिबिम्बन है। लेखक या कृतिकार ओढ़े हुए व्यक्तित्व के कारण समाज की करवटों का इतिहास लिखा करता है।

सन् 1936 के प्रगतिशील आन्दोलन के सम्बन्ध में मुंशी प्रेमचन्द ने साहित्यपरक विचार दर्शन और जीवन–दर्शन को समाजवादी अर्थवत्ता पर निर्देशित किया है। प्रगतिवादी मार्क्सवादी या समाजवादी हिन्दी समीक्षकों का

---

[1] साहित्य कला समीक्षा, पृ0 69

[2] इतिहास और आलोचना, पृ0 38

सम्प्रति एक ऐसा वर्ग है, जो समाजवाद के स्थान पर जनवाद का नारा लेकर आगे बढ़ रहा है जिससे हिन्दी की समाजशास्त्रीय समीक्षा का स्वरूप साठोत्तरी दौर के समय भारतीय समाज के शोषित वर्ग का राजनैतिक, आर्थिक तथा सांस्कृतिक संघर्ष से समंजित हो उठा है।

समाजशास्त्रीय हिन्दी समीक्षा का प्रभाव प्रसार हिन्दी इतर भारतीय भाषाओं में भी देखा जा सकता है। बंगला साहित्य में नीरेन्द्रनाथ राय, शितांशु मिन, अरविन्द, पौदार, राजनैतिक, आर्थिक और ऐतिहासिक संदर्भ में समाजवादी साहित्य समीक्षा को समाकलित एक ओर कर रहे हैं तो दूसरी ओर दक्षिण भाषा–भाषी तमिल, तेलुगु, कन्नड़ भाषा में मार्क्सवादी चिन्तन को अभिनव रूपों में संजो रहे हैं। जिनमें प्रमुख हैं–डॉ0 होमे नवर गोहाई (असमिया), श्री लाल पेडसे (मराठी), डॉ0 के0 कैलाशपति (तमिल), डॉ0 सुप्रशन्न (तेलुगु)। इन सजाजवादी समीक्षकों ने समाजशास्त्रीय समीक्षा चिन्तन में वस्तुपक्ष की स्थापना को बल दिया है।

समाजशास्त्रीय समीक्षा का स्वरूप सामाजिक जीवन और उद्वेलित तथा प्रभावित व्यक्ति के जीवन द्वन्द्वों का रूप है। साहित्यकार जितना गहरा इनमें पैठ सका है उतना मर्मस्पर्शी और प्रभावशाली साहित्य प्रमाता वर्ग को दे सका है। इस समीक्षा पद्धति में मानवीय संवेदना का स्वरूप प्रधान है। साहित्य में सौन्दर्य बोध को जानने की यह समीक्षा सरणि विशुद्ध रूप से मानवीय धरातल पर टिकी हुयी है।

पाश्चात्य मत :

समाजशास्त्रीय समीक्षा के स्वरूप को समझने के लिए मार्क्सवाद की कतिपय मूलभूत मान्यताओं को समझ लेना आवश्यक है। भौतिक चिन्तन के विकास में मार्क्स ने समाजवादी, द्वन्द्वात्मक ऐतिहासिक सूत्र को युगानुरूप मान्यता दी है। हीगेल (पाश्चात्य विचारक) ने द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद की परिधि को बौद्धिक अन्तर्द्वन्दीय सर्वप्रथम समझा था। वैचारिक संगतियों के प्रतिपादन में कार्ल मार्क्स का कथन विचारणीय है :–

My dealective medhool is not only different from Hegeling. But it is direct oposite to Hegal the life process of human brain the proceses of thinking, which under the name of sake he even Transform in to the and independent subject is demiurgos of the real word and the real world is only the extensccess phenomenal from of the idea with me on the world reflected by the human mind Translates into from of th ought.[1]

मार्क्सवाद एक जीवन है। इस दृष्टि में साहित्य और सौन्दर्य का सम्बन्ध अन्तर्निहित है। लोक मंगल एवं जनहित में मार्क्सवादी साहित्य मान्यतायें विशेष जोर देती हैं। मार्क्सवादी विचारधारा साहित्य के सम्बन्ध में सबसे पहले यह स्वीकार करती हैं कि इसका उत्पादन और विनिमय आर्थिक सम्बन्धों का परिणाम हैं।[2]

---

[1] Selected Works, Page 413
[2] Selected Works, Page 37

साहित्यकार की चेतना समाज सापेक्ष होती है। अतः समाजशास्त्रीय आयामों पर ही उसे साहित्य का सेतु तैयार करना होता है, उस पर अपने चारों ओर के जगत का प्रभाव पड़ता है। कोई साहित्यकार कितना ही बचने का प्रयत्न करे किन्तु इस प्रभाव से मुक्त नहीं हो सकता। समाज के यथार्थ को साहित्य द्वारा प्रकट करने का बहुत बड़ा उत्तरदायित्व साहित्यकार पर आता है। मार्क्सवादी यथार्थवाद की विशेषताओं का विश्लेषण इसी प्रकार मार्क्स ने किया है।

परम्परागत साहित्य जड़त्व की प्रतिमूर्ति बनकर पूंजीवादी अवधारणा के मूल में समाहित हो गया है। वर्ग संघर्ष के मूल्य जड़त्व को उखाड़कर समाज व्यवस्था का अभिनव पथ प्रशस्त करने में अब जुट गये हैं। चीनी विचारक माओत्से तुंग ने लिखा है :–

Our art and literature are the first of all for the works the class which leads the revolution secondly they are for the present the most numerous and steal fast allies in the revolution thirdly. They are for armed worked for they are for working people.[1]

क्रान्ति दर्शी समाज दर्शन का उन्नयन रूप समाजशास्त्रीय समीक्षा में अन्तर्भूत है। मानव की भाव सृष्टि एवं विचारधारा में निहित कलात्मक सृजन का आधार भी भौतिक होता है और समाज की भ्रान्तिमूलक चेतना के विकास में

---

[1] On Art and Literature, Page 88

उसके प्रासाद के अन्य अवयवों की भांति कला एवं साहित्य का भी सहयोग रहता है।

विचारक एंगिल्स ने इस तथ्य पर दृष्टिपात किया है। वस्तुतः जिस क्षेत्र का हम अनुशीलन करते हैं वह आर्थिक जगत से बहुत सम्बद्ध होता है। एंगिल्स की मान्यता साहित्य सृजन एवं आस्वादन की दृष्टि से विशेष महत्वपूर्ण है, वस्तुगत सत्य को स्वीकार करते हुए है। मानव में उन्होंने सौन्दर्य की भावना को नकारा है और सौन्दर्य के नियमों से प्रेरित होकर काव्य सृजन की महत्ता को ऋणात्मक बिन्दु बताया है।[1]

Hence man also creath according to the low of beauty not reconise.

कवि, कलाकार उस समय रचनाशील होता है जब भौतिक आवश्यकताओं से मुक्त हो। कवि की रचना एकांगी न होकर विश्वजनीन होती है। मार्क्सवादी पद्धति ने सौन्दर्य बोध के वस्तु सत्ता को इसी अर्थ में स्वीकार किया है। साहित्य यथार्थवादी धरातल पर युगसामान्य को बहिर्मुखी बनाता है। इन पाश्चात्य विचारकों के विचारों के मूल में समाजशास्त्रीय चिन्तन का स्वरूप यथार्थ परक और भौतिकवादी है। समाजशास्त्रीय साहित्य की शैली सुस्पष्ट सामान्य वैविध्यपूर्ण लोक जीवन की भांति बहिर्मुखी है। इसी कारण यह सामाजिक यथार्थ को उसके अधिकतम अंश में अभिव्यक्त कर पाती है। साहित्य में युगसत्य प्रकट होता है। इस अवधारणा से प्रेरित होकर मार्क्सवाद मानवतावाद

---

[1] Literature and Art, Page 13

पर आधारित हो गया है। इस वाद ने सौन्दर्य को मानव हित में ही प्रगाढ़ता के साथ देखा है। व्रोल्युवोक मार्क्सवादी विचारक ने समाजशास्त्रीय अवधारणा को खुले तरीके से प्रस्तुत करते हुए लिखा था कि आलोचना का सबसे अच्छा तरीका यह है कि जो स्थिति को इस ढंग से खोलकर रखे कि प्रस्तुत तथ्यों के आधार पर पाठक अपने–आप निष्कर्ष निकालने में समर्थ हो सके। हम तथ्यों को संचित करते हैं। आलोच्यकृति में निहित उनके सामान्य अर्थ का विवेचन करते हैं अपनी जीवन की वास्तविकता से उनके सम्बन्ध की ओर संकेत करते हैं अपने निष्कर्षो पर पहुँचते हैं।[1]

वास्तविकता यह है कि कवि अपनी सामग्री समाज से ही लेता है और समाज की भावी व्यवस्था के बारे में ही लेखन की चेतना सुस्पष्ट एवं सजीव होती है। यदि कोई कलाकृति किसी विचार या मतविशेष को व्यक्त करती है तो इसलिए नहीं कि उसका रचयिता उस मत विशेष को अपनी सृष्टि में प्रतिपादित करने का बीड़ा उठाता है वरन् इसलिए कि वास्तविक जीवन के जिन तथ्यों की ओर उसका ध्यान गया है उन तथ्यों से अनिवार्यतः वह मत प्रकट करता है। समाजशास्त्रीय हिन्दी समीक्षा प्रवृत्ति पाश्चात्य विचारकों की ही देन है। मनुष्य की कलात्मक चेतना के विकास तथा कला एवं सामाजिक सम्बन्ध को निरूपित करने का श्रेय इन्हीं को है। प्लेखनोव ने इस बात का स्पष्ट समर्थन किया है कि कला मनुष्य के मानसिक धरातल की अनुपम कृति है।

---

[1] Philosophy, literature and critisism, Page 51

समाजशास्त्रीय अवबोध पाश्चात्य विचारों की एक जीवन्त झंकृति है। समाजशास्त्रीय समीक्षक के रूप में आलोचक को सृष्टि की व्यापक मान्यताओं के परिप्रेक्ष्य में कलाकृति के मूल्यों का निर्धारण करना पड़ता है, जिसमें साहित्य और समाज का सहबोधीय सम्बन्ध गत्यात्मक बना रहता है।

के0 यू0 चेरनेन्को का मत समीक्षा के संदर्भ को स्वस्थ संकेंत की ओर मोड़ता है।

'Criticism in the.......is of course a sharp weapon and our should be able to use it without deviating from a prince pled and objective stand. To us a critical statement is not a sensation but signal, whose hole aim is to eliminate short comings.'[1]

---

[1] Selected speaches and articles, Page 224

(ख) समाजशास्त्रीय समीक्षा के विभिन्न मानदण्ड :

मार्क्स और एंगिल्स साम्यवादी विचारधारा को सृष्टि पर अवतरित करके बहुपरीक्षित सत्य बन गये हैं। मार्क्स ने सृष्टि में चेतना के कुछ स्वरूप अर्थ से अत्यधिक निकट स्वीकार किये हैं। उन्होंने द्वन्द्वात्मक विकास तथा अन्तर विरोध को मान्यता दी है। मार्क्सवादी भौतिकवाद रूढ़िवादी पद्धति न होकर वस्तुओं को समझने का एक तरीका है जिसके मूल में वैज्ञानिक क्रिया है। इस प्रवृति के अनुसार मैटर (Matter) को केवल छोटे–छोटे अणुओं का समूह नहीं माना जा सकता है, जिससे कि सारे पदार्थो की रचना हुई है। वरन् यह तो सृष्टि का असीम समूह है जिसमें अनेक तथ्य भिन्न–भिन्न प्रकार की दुनिया में स्थित हैं, भौतिकवादी जगत के अन्तर्गत वह सभी स्वीकृत हो जाता है जो हमारे मस्तिष्क के बाहर है। मार्क्स की इस प्रवृत्ति ने सृष्टि का आकर्षण बढ़ा दिया है, जनवादी आन्दोलन को प्रोत्साहित किया है, साहित्य में अभूतपूर्व सामाजिक सत्ता को अस्तित्व दिया है। परिवर्तन की गत्यात्मकता को मार्क्स की मुख्य प्रवृत्ति में सन्निहित किया जा सकता है। कला, संस्कृति, राजनीति का ढांचा सभी मार्क्सीय प्रवृत्ति पर आज आरूढ़ हो गये हैं। समाज के उत्पादन के साधन आज साम्यवादी प्रवृत्ति जीवन पद्धति के पर्याय बन गये हैं। कथन है :–

The production of the immediatly material means of subsistence and consequently the degree of the economics development attainted by a given people during a given epoch from the upon which the

state institution the legal concepition the ideas on art an ever religion of the people concerned have been ever.[1]

वस्तुतः जहाँ तक मार्क्सवादी दर्शन तथा समाजशास्त्रीयता का उल्लेख है वहां हिन्दी और अहिन्दी आलोचकों ने इस संदर्भ में भारतीय एवं पाश्चात्य पुरातनवादी कवि एवं लेखकों से लेकर आधुनातनवादी कवि लेखकों तक बड़े–बड़े आलोच्य ग्रंथ प्रणयन किये हैं। लोक साहित्य समाजवादी रचना को महत्व दिया करता है। साहित्य और जीवन की भूमिका में गोर्की ने सामाजिक यथार्थवादी स्वतन्त्रता प्रिय वैयक्तिक चेतना को सर्वोपरि माना है। इतिहास जीवन और कला पारस्परिक सम्बन्ध पर ही निर्भर है। डॉ0 रामविलास शर्मा ने प्राचीन साहित्य तथा अर्वाचीन साहित्य की गहराई में जाकर सामाजिक पृष्ठिभूमि का अध्ययन किया और कहा–"साहित्य की प्रगतिशीलता का प्रश्न वास्तव में समाज पर साहित्य के शुभ एवं अशुभ का प्रश्न है........प्रगतिशील साहित्य वह है जो समाज को आगे बढ़ाता है, मनुष्य के विकास में सहायक होता है। प्रगतिशील साहित्य तभी प्रगतिशील है जब सामाजिक संरचना में उसका अभीष्ट है। सिर्फ मिथक साहित्य की रचना करके गणनाधारी बनने वाला कवि/लेखक साहित्य को सही सृष्टि प्रदान नहीं कर सकता। संस्कृति और साहित्य सामाजिक विचारभूमि पर टिके हुये हैं। सामाजिक परिवर्तन विकास के स्वतन्त्रयमय जीवन पद्धति का नया रूप मानवीय आस्था को प्रकट करता है। मानव जाति के प्रति प्रेम के ध्येय का संसार साहित्य का संसार है। मार्क्सवादी क्रांतिकारी सर्वहारा का

[1] Selected work Vol.:2, Page 153

मानववाद इसी बिन्दु पर सुस्पष्ट है। मार्क्स ने एक स्थान पर कहा है कि सर्वहारा मानववाद का कार्य एक श्रमजीवी से प्रेमपरक प्रतीकात्मक घोषणा नहीं मांगता। वह हर मजदूर से अपने ऐतिहासिक मिशन की चेतना की सत्ता पाने के अधिकार की धन लोलुपों से परोपजीवियों से फॉरिस्टों तथा हत्यारों से अमिट घृणा की, उन सब तथ्यों से जो तथ्य के कारण हैं और उनसे जो करोड़ों लोगों के कष्ट पर जीते हैं, घृणा की मांग करता है।[1] समाजवादी रचना का महत्व यथार्थवादी के निकट है और यह महत्व सर्वहारा एवं प्रगतिशील सामाजिक शक्तियों को स्थापित करता है। इस विचारधारा के कवि लेखक समसामयिक साहित्य की जागरूकता को पहचानते हैं।

नया साहित्यकार विशेषकर नई समीक्षा पर यह अभियोग लगाता हैं कि वह पिछले साहित्य की परम्पराओं के तटस्थ और उदासीन है। डॉ0 रामविलास शर्मा ने अतीत के साहित्य को इस अभियोग के तहत बचाववादी मान्यता दी। उन्होंने गोस्वामी तुलसीदास, भारतेन्दु हरिश्चन्द्र से लेकर प्रयोगवादी कवियों को ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य प्रदान किया है। उन्होंने प्राचीन साहित्य को बड़ी गहराई से सांस्कृतिक पृष्ठभूमि में देखा, अतः यह कहना सर्वथा भ्रमपूर्ण है कि समाजशास्त्रीय विचारक अतीत से परांगमुख हैं या प्राचीन को सर्वथा हेय मानते हैं। डॉ0 शर्मा ने पारस्परिक सांस्कृतिक पृष्ठभूमि के संदर्भ में मानवीय संवेद्य को नया स्थान दिया है। अपनी उर्वरा भूमि में संस्कृति और साहित्य आलोच्य ग्रंथ

---

[1] Literature and reality, Page 55

का प्रणयन इसी तथ्य का साक्ष्य है, जिसमें तुलसी, बाल्मीक, रवीन्द्र, भारतेन्दु, निराला आदि शीर्षक अनूठे तथा मौलिक हैं।

साम्यवादी विचारक गोर्की भी क्रान्तिकारी विचारक होते हुए भी अतीतोन्मुख था। उसने संवेदनशील हृदय से मानवता के करूणामय इतिहास को संपदामय भावना से चुन–चुन कर गिना था। समाजवादी यथार्थवादी का नारा भले ही नया हो किन्तु संस्कृति और मानव विकास की पूर्ण समग्रता में इतिहास ही उसमें एंक प्रश्रय रहा है।[1]

द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद एवं ऐतिहासिक भौतिकवाद का महत्व :

मार्क्स और एंगिल्स ने 'Dialect' शब्द का प्रयोग सर्वप्रथम किया, जिसका भौतिकवादी अवधारणा से पूर्ण सम्बन्ध रहा है। मार्क्स ने अपने भौतिकवादी चिन्तन में पूर्ववर्ती मान्यताओं पर दृष्टिपात करके उन्हें अपने अनुसार स्वरूप प्रदान करने का प्रबन्ध किया है। उसका मत रहा है कि मैं मानव मस्तिक द्वारा भौतिक विश्व को अपने आदर्शरूप में ग्रहण करके अपने चिन्तन का विषय बनाता हूँ।[2]

मार्क्सीय द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद विश्व का सतत् परिवर्तनशील और विकासशील अवस्था में मूल्यांकन करता है। इस परिवर्तन की अवस्था में एक वस्तु दूसरी वस्तु में बदल जाती है। अतएव इस परिवर्तन निहित मूलभूत तत्वों

---
[1] Culture and people, Page 56
[2] Selected works, Page 413

के ज्ञान के लिए हमें विशेष प्रयत्न करना चाहिए। विकास की प्रक्रिया अनन्त है। एक वस्तु के स्थान पर दूसरी वस्तु की अवतरणा हुआ करती है और यह प्रक्रिया अबाध गति से निरन्तर चला करती है। द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के अनुसार नवीनता अवतरित प्रगति और विकास की परिचायक है।

The new is that which is progressive improved and viable, which constantly grows and develops.[1]

जगत के रहस्यों का उद्‌घाटन भौतिकवादी समाजशास्त्रीय विचारकों ने ही किया है। मार्क्स ने इस भौतिकवाद की विकास–रूपरेखा निर्धारित की है, जो द्वन्द्ववाद और ऐतिहासिकता से परिपूर्ण है। मार्क्स ने इस सिद्धांत के प्रतिपादन से कितने व्यापक और गम्भीर परिणाम निकले जिनके द्वारा समाज, व्यक्ति इतिहास तथा अन्य मान्यताओं में कितनी विविधता एवं नवीनता आ गयी है। मार्क्सवादी विचारक लेनिन ने द्वन्द्ववाद पर लिखे अपने निबन्ध में द्वन्द्व की परिभाषा एकता का विभाजन तथा उसके परस्पर विरोधी अंगों की स्वीकृति को विस्तार से विवेचित किया है।[2] द्वन्दवाद और ऐतिहासिक भौतिकवाद का महत्व आज के वर्तमान में विशेष है।

---

[1] Marxist philosophy, Page 91
[2] Marx and Angeler selected works, Page 332

अर्थव्यवस्था एवं सामाजिक प्रक्रिया का साहित्यिक महत्व :

समाज के विकास का आधार मानव जाति के मूलभूत आवश्यकताओं पर निर्भर करता है। समाज के भौतिक जीवन की परिस्थितियों को प्रभावित करने वाली आर्थिक शक्ति ही समाज के विकास को नियन्त्रित करती है। इसी शक्ति को हम समाज की मूलभूत आवश्यकताओं को प्राप्त करने वाला मानते हैं। इन मूलभूत आवश्यकताओं में भोजन, वस्त्र, आवास आदि मुख्य रूप से आते हैं। रूस विचारक जे० स्टालिन ने इनके बिना जीवन का चलना असम्भव बताया है और इनके अभाव में सामाजिक विकास को अवरूद्धतापूर्ण कहा है।[1] मनुष्य और वस्तुओं का सम्बन्ध बनता–बिगड़ता रहता है। प्रकृति की शक्ति को मनुष्य उत्पादन में लगाता है। बुर्जुआवर्ग उत्पादित सामग्री आज हड़पने में लगा हुआ है, जिससे भारतीय समाज के शासक शोधक वर्ग में राजनैतिक, आर्थिक तथा सांस्कृतिक संकट बहुत गहरा हो गया है।

वस्तुतः अमेरिका से सड़ा हुआ गेहूँ और सड़ी हुई विचार परम्परायें आ रहीं हैं जो सम्प्रेषित की जाती हैं। भारत–चीन संघर्ष से शोषित वर्ग की विचारधारा पर कड़े पहरे लगा दिये गये हैं। इस प्रकार सन् 1960 से पूर्व और कुछ समय बाद में भी क्षयग्रस्त कला ने आलोचना के प्रतिमानों की तलाश की तथा भाववाद की क्रमिक मृत्यु हुई और भौतिकवादी यथार्थवाद की क्रमिक विजय हुई। कार्ल मार्क्स ने भौतिकवादी मान्यता के आधार पर इस आर्थिक पहलू को

---

[1] On dialectical and historical materolism, Page 36

स्वीकार करके सारे मानव इतिहास का मूल्यांकन किया। उत्पादन सम्बन्धों का विवेचन करते हुए साहित्य को पांच युगों की संज्ञायें देकर उन्होंने एक रूपरेखा निर्धारित की। जिन्हें आदि युग या साम्यवाद युग, दासयुग, सामन्तयुग, पूंजीवादी युग तथा समाजवादी युग की संज्ञा प्रदान की है। मानव इतिहास की अर्थ व्यवस्था एवं सामाजिक प्रक्रिया में एक गत्यात्मक प्रवृत्ति है, जिसका साहित्यिक निजी महत्व है।

मानवतावादी दृष्टिकोण :

आज यह बात अनुभूत सत्य है कि जीवन–जगत् और विचार का विकास मानवीय महत्ता का प्रतिपादन करता है। मानव विकास में मुख्य भूमिका वर्ग संघर्ष की होती है। इस अवधारणा का प्रतिपादन हिन्दी साहित्य में सर्वप्रथम पण्डित बद्रीनारायण चौधरी, 'प्रेमधन' और पण्डित बालकृष्ण भट्ट ने किया था। हिन्दी समीक्षा के जन्म–काल के समय ही साहित्यिक समीक्षा दृष्टि में जनसमूह के हृदय का समाकलन होने लग गया था। मानवीय सत्ता का भावपरक विकास वर्ग संघर्ष के दौर में ही समझा गया। सच्चे मानव प्रेम का महत्व तब तक विकसित नहीं हो सकता है जब तक कि वर्ग विहीन समाज व्यवस्था स्थापित नहीं हो जाती। मानवतावाद के सम्बन्ध में विचार करते हुए चीनी समीक्षक यांग ने इसे दो रूपों में विभाजित किया है।[1]

---

[1] The path of socialist literature and art in China, Page 61

बुर्जुआ मानवतावाद तथा सर्वहारा मानवतावाद :

मानवतावादी महत्व धार्मिक शोषण के साथ सिद्ध नहीं होता उसमें व्यक्तिशः गौरव की स्थापना निहित रहती है। इस मानवीय मान्यता के आधार पर बुर्जुआ वर्ग ने मानव का शोषण किया है। सुधारवादी विचारक मानवतावाद का आधार धर्म से अबलम्बित प्रेम मानते हैं। उनकी दृष्टि में प्रेम सामान्य मानव प्रकृति है, जिसे कला और साहित्य का शाश्वत विषय माना जा सकता हैं इस दृष्टिकोंण के खिलाफ चीनी विचारक यांग ने उन्हें प्रतिक्रियावादी कहा हैं हिन्दी जगत में मानवतावादी विस्तीर्ण रूपरेखा को संस्कृति और साहित्य के घेरे में समझा गया है। मानव रूढ़िवादियों से मुक्त और अपने अधिकारों के प्रति सचेत है। शिवदान सिंह चौहान ने मानवतावाद के प्रति यथार्थपरक दृष्टि अपनाकर सामन्तवाद को प्रतिक्रियावादी संज्ञा दी है।[1]

समसामयिक सामाजिक जीवन के प्रति विशिष्टता का आग्रह :

सन् 1936 में प्रगतिशील लेखक संघ के प्रथम अधिवेशन के सभापति पद से दिये गये भाषण में मुंशी प्रेमचन्द ने जो साहित्य का उद्देश्य बतलाया था। वस्तुत वह साम्यवादी साहित्यकारों के साहित्य का उद्देश्य चाहे हो या न हो किन्तु समसामयिक जीवन के प्रति एक विशिष्ट आग्रह था उन्होंने कहा था – जो हो साहित्य का काम केवल मानव बदलाव का सामान

[1] संस्कृति और साहित्य, पृ0 16

जुटाना, केवल लोरियां गा–गा कर सुनाना, केवल आँसू बहाकर जी हल्का करना था; तब उसके लिए कर्म की आवश्यकता न थी वह एक दीवाना था, जिसका दूसरे खाते थे मगर हम साहित्य को केवल मनोरंजन एवं विलासिता की अब वस्तु नहीं समझते। हमारी कसौटी पर वही साहित्य खरा उतरेगा जिसमें उच्च चिन्तन ही स्वाधीनता का भाव हो, सौन्दर्य का सार हो, सृजन की आत्मा हो, जीवन की सच्चाईयों का प्रकाश हो, जो हममें गति, संघर्ष और बेचैनी पैदा करे, सुलाये नहीं क्योंकि अब और अधिक सोना मृत्यु के लक्षण है।

साहित्य और समीक्षा के समसामयिक दौर पर हिन्दी समीक्षा में रूपवाद को सुदृढ़ अर्थ मिला। यथासम्भव समय के अनुरूप साहित्य जन जीवन की निकटता को प्राप्त कर सका, रचना की जीवन्तता समय की परिधि में और अधिक वैज्ञानिक हो सकी। इस प्रकार आधुनिक समाज में साम्यवादी शक्तियों एवं पूंजीवादी शक्तियों का अन्तर्विरोध समसामयिक द्वन्द्ववाद का पर्याय बन गया। यह द्वन्द्व समय सापेक्ष है। एकता में निहित द्वन्द्व इस दृष्टि से विशेष महत्वपूर्ण माना जा सकता है। इस संदर्भ में मार्क्सवादी विचारक 'Afanasyev' का मत है कि वस्तुओं में वाह्य एवं आन्तरिक दोनों प्रकार के द्वन्द्व पाये जाते हैं। किसी पदार्थ विशेष में निहित विरोध के द्वन्द्व को आन्तरिक द्वन्द्व एवं वातावरण विशेष के साथ इसके द्वन्द्वात्मक सम्बन्ध को वाह्य द्वन्द्व की संज्ञा दी जाती है।[1]

---

[1] Marxist philosophy, Page 101

यथार्थवादी चिन्तन एवं विचारधारा का अंतः सम्बन्ध :

मार्क्स ने यथार्थपरक चिन्तन को साहित्यकला के मध्य अनिवार्य सिद्ध किया है। मार्क्स ने लिखा है कि पशुओं का निर्माण अपने और बच्चों के लिए होता है। अतएव उनकी यह क्रिया एकांगी होती है। मानव सृजन विश्वजनीन होता है,...........उसका यह व्यापक दृष्टिकोंण विचारधारा के अन्तः सम्बन्ध को भी स्थापित करता है।[1] मार्क्स मानता है कि मानव की भाव सृष्टि एवं विचारधारा में निहित कलात्मक सृजन का आधार भी भौतिक है। वस्तुतः कला एवं साहित्य विचारधारा का पर्याय है। मार्क्स ने इसी पर्याय के प्रतिबिम्ब को साहित्य चिन्तन में मुखरित किया है। मार्क्स मानवता पुजारी है, उसने मानव के यथार्थपरक जीवन को साहित्य चिन्तन से जोड़ दिया है। मार्क्सवादी विचारधारा यथार्थपरक जीवन को समझने में ही सफलीभूत है।

साहित्य और विचारधारा का अन्तः सम्बन्ध प्रगतिशील साहित्य की अभिनव दिशा है। श्री शिवदान सिंह चौहान ने मार्च 1947 के 'विशाल भारत' में मानव जीवन की यथार्थता पर गहराई से प्रभाव डाला है।[2] ऐसे तथ्यों के प्रकाश में समाज में हो रहे जीवन मूल्यों में साहित्य को विचारधारा से जोड़ा गया है। उन्होंने प्रगतिवाद की विचारधारा के अनुरूप नवीनता का आग्रह किया और ह्रासोन्मुखी अवस्था, निर्जीव परम्परा का विरोध किया। मोटे तौर पर मनुष्य की

---

[1] Literature and art, Page 13

[2] साहित्य की परख, पृ0 71

मानसिक प्रतिक्रिया का अध्ययन विचारधाराओं में होता है और यथार्थवादी चिन्तन सहज प्रवृत्तियों, आवेशों तथा भावनाओं को अधिक संवेद्य बनाने में सफलीभूत होता है। मानवीय विचार सांस्कृतिक परम्परा की एक उपजीव्य निधि है।

सर्वहारा वर्ग के हितवादी मूल्य :

शासक और शोषित वर्ग द्वन्द्व को साहित्य में बीसवीं शताब्दी में ही उद्‌भावित किया गया है। सर्वहारा वर्ग समाज का उत्पीड़ित वर्ग है, इस वर्ग को कला साहित्य से जोड़कर ऐसी विचारधारा की प्रतिस्थापना की जा सकती है, जिसमें गत्यात्मकता हो विकासनशीलता हो। प्लेखनोव ने मनुष्य की कलात्मक चेतना के विकास तथा कला एवं सामाजिक सम्बन्ध को निरूपित करने का हितवादी रूप मान्य किया। उनके अनुसार मनुष्य जीवन के प्रति यथार्थ परिप्रेक्ष्य में अपने द्वारा पूर्वानुभूति भावों एवं विचारों का उद्‌बुद्ध करके उन्हें निश्चित बिम्बों के मार्ग से प्रगट करता है तब कला का जन्म होता है।[1] सर्वहारा का जीवन मूल्य आज की जागरूक कला से जुड़ा हुआ है। आज के परिवेश में आर्थिक सम्बन्धों से प्रभावित मानस की एक झलक कला में देखी जा सकती है। प्रो0 प्रकाशचन्द्र गुप्त ने हिन्दी साहित्य में सर्वहारा वर्ग के निमित्त आर्थिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक परिस्थिति का विश्लेषण किया है। प्रगतिवादी चिन्तक रचनात्मक साहित्य का प्रणेता होता है। जिसमें सर्वहारा वर्ग के प्रति सद्‌भाव होते हैं। प्रो0 गुप्ता का कथन है –''सत्य, शिव और सुन्दर की आराधना को शाश्वत कहा

---

[1] Art and social life, P. 8

जाता है यानि जीवन में इसका रूप अपरिवर्तित है। हम जीवन को गतिशील एवं विकासमान समझते हैं। जड़, स्थावर नहीं सत्य और सौन्दर्य के अधिकाधिक विकसित भाग हमें समाज एवं कला में मिलते हैं।"[1]

समाजशास्त्रीय हिन्दी समीक्षा के विविध मानदण्ड वर्ग द्वन्द्व, आर्थिक, वैषम्य और सांस्कृतिक ह्रास से जुड़े हुए हैं। इन मानदण्डों में लोकवादी रचना का विशेष महत्व है, क्योंकि रचना मनुष्य के भाव एवं विचार को उद्धृत करके लोकधरातल की पुष्टि करती है। मार्क्सवादी चिन्तन में विचारधारा का अस्तित्व समीक्षामान बनकर एक निकस बना हुआ है। मार्क्सीय चिन्तन में विचार विहीन साहित्य का कोई अस्तित्व नहीं है। सर्वहारा का समुचित स्वरूप साहित्य सोद्देश्यता को लेकर इस पद्धति में आगे निरूपित हुआ है। जनवादी क्रान्तिदर्शिता की भूमिका साहित्य में एक नई दिशा का उदघाटन करती है। मूलतः समाजशास्त्रीय साहित्य का मूलाधार जातीय, राष्ट्रीय और साम्प्रदायिक न होकर आर्थिक है। इसका उद्भावन मानव समाज के साथ ही हुआ है। जनवादी काव्य क्रांतिकारी सर्वहारा का प्रतिफलन है। मानवतावादी दृष्टि का प्रतिबिम्बन है तथा सामाजिक ढांचे का बुना हुआ अन्तरिम सूत्र है जिसे श्रमजीवी के कलात्मक रागों से जोड़ा गया है। समाजवादी यथार्थ परक भावना संश्लिष्ट एक इकाई बनी हुई है और यथार्थवाद इस अभिज्ञान का प्रतीक है।

---

[1] नया हिन्दी साहित्य 'एक दृष्टि', पृ0 71

समाजवादी यथार्थवाद का दृष्टिकोंण विशुद्ध क्रान्तिकारी है और यह सर्वहारा प्रगतिशील सामाजिक शक्तियों के साथ प्रतिबद्ध है। इस विचारधारा के समीक्षकों को समसामयिक साहित्य की राजनैतिक गतिविधियों से मुकाबला करना होता है। आज का व्यक्ति संघर्ष का एक अभिनेता है। समाजशास्त्रीय समीक्षामान में वही रचनाकार सम्मिलित हो सकता है जो मानवता के उद्धार के लिए पूर्णरूपेण उत्सर्ग हो। प्राचीन साहित्यिक मानदण्ड आज के अतृप्त मानव के लिए दरिद्र एवं ठन्डे हैं। यथार्थवाद जीवन की विकृति को समाजवादी ढांचे पर ही आरूढ़ित करता है जो सृजनात्मक प्रतिभा का पूरक है। समाजशास्त्रीय समीक्षा का मान अन्तर्राष्ट्रीय मानवतावादी मान है। साहित्यिक बोधगम्यता इस पद्धति का विशिष्ट गुण है। साहित्य और समाज अन्योन्या शून्य है। इस तथ्य की पुष्टि समाजशास्त्रीय प्रतिमानों में दृष्टिगत होती है।

(ग) हिन्दी समीक्षा के बदलते मानदण्ड एवं समाजशास्त्रीय हिन्दी समीक्षा :

हिन्दी साहित्य कोष जनित समीक्षा पद्धतियों के मान विविध हैं।[1] आज ज्ञान विज्ञान की प्रगतिमूलक श्रीसम्पन्नता के कारण समीक्षा प्रवृत्ति बहिर्मुखी होने के कारण अन्तर्मुखी भी हो गयी है। जिनके मानदण्ड हिन्दी समीक्षा के सन्दर्भ में नाना रूपों में प्रयुक्त हुए हैं। इन समीक्षा मानों का विभाजन वैज्ञानिक भले ही न हों परन्तु समीक्षा विधा के दार्शनिक प्रश्नों को समझने में सहायता अवश्य मिलती है। समीक्षा की प्रवृत्तियां, पद्धतियां और सरणियां दर्शन एवं चिन्तन के रूप में एक हैं। फिर भी समीक्षा के विविध स्वरूपों तथा बदलते मूल्यों को भिन्न–भिन्न संज्ञाओं में संयोजित किया जाता है। समीक्षा वृक्ष मूलतः सैद्धान्तिक और व्यावहारिक दो शाखाओं पर पल्लवित तथा पुष्पित है। सिद्धान्त की डोरी लेकर साहित्य जगत की गहराई का जब आंकलन होता है तब उसे सैद्धांतिक समीक्षा कहते हैं और जब मानव मूल्यों के साथ साहित्य का समाकलन होता है तब उसे व्यावहारिक समीक्षा की संज्ञा दी जाती है। इस समीक्षा वृक्ष की टहनियां विविध आकारों एवं प्रकारों में देखने को मिलती हैं। ये समीक्षामान आकार–प्रकार विभाजन की दृष्टि से मौलिक तो नहीं परन्तु सम्यक् विवेचन तथा गवेषणात्मक समीक्षा दर्शन के लिए उययुक्त हैं। इन बदलते मानदण्डों को अधोलिखित विविध पद्धतियों के भीतर समन्जित किया गया है। हम काव्यशास्त्र

---

[1] हिन्दी साहित्य कोष, पृ0 110

का प्रयोग वैज्ञानिक निरूपण के लिए कर सकते हैं, जिसमें काव्य अथवा कविता के स्वरूप, भेद समस्याओं पर व्यापक रूप से विचार किया गया हो।[1]

समीक्षा का पुरातन प्रतिमान शास्त्रीय रहा है। शास्त्रीय प्रतिमानों के अनुरूप इस प्रणाली में काव्य के गुण–दोषों का विवेचन किया जाता है। डॉ0 भागीरथ मिश्र काव्य शास्त्रीय समीक्षा को वैज्ञानिक विकास बताते हैं।

साहित्य और उसकी समस्त विधाओं का अध्ययन मनन शास्त्रपरक मानों से करने को ही शास्त्रीय समीक्षा कहा जाता है। इसमें किसी भी कविता के आधार पर उसका स्वभाव निरूपण, प्रवृत्ति निर्धारण, ऐसे सर्वकालीन, सर्वव्यापी सिद्धांतों के समावेश से होता है जो भविष्य की रचनाओं में पथ–प्रदर्शन करने में सहायक हो। काव्य के सौन्दर्य को स्पष्ट करना तथा उसे दोषों से बचाते हुए उत्तम काव्य सृष्टि की प्रेरणा भर देना इस समीक्षा का मूल मान है।

शास्त्रीय समीक्षा का मान अंग्रेजी में क्लासिकल के नाम से जाना जाता है। यूरोप के पुनरुत्थानकाल में इस समीक्षामान से काव्यात्मक प्रतिभा की परख की जाती थी। भाषा, छन्द, कविता, अलंकार आदि से शास्त्रीय समीक्षा के मान आदर्श मान माने जाते हैं। डॉ0 अवतरे ने शास्त्रीय समीक्षा के मानों को दो उपरूप दिये हैं–एक स्वरूपनिष्ठ सैद्धांतिक समीक्षामान, दूसरा विकासनिष्ठ समीक्षामान।[2] शास्त्रसम्मतनवीन समीक्षामानों का समन्वय हिन्दी समीक्षा में व्यापक

---

[1] हिन्दी काव्यशास्त्र का इतिहास, पृ0 2
[2] हिन्दी साहित्य में काव्य रूपों के प्रयोग, पृ0 258

विस्तृत रूप में सम्पन्न हुआ है। विकासोन्मुखी सैद्धान्तिक पक्ष आज साहित्यिक वादों के साथ जुड़ गया है। सैद्धान्तिक धरातल पर नवीन रचनाओं को परखने के लिए पश्चिमी साहित्यिक वादों के साथ भारतीय काव्य सम्पदाओं का निर्धारण भी अब समुचित है।

किसी कृति से सम्बन्धित ऐतिहासिक, राजनैतिक, सामाजिक व्यवस्था का गवेषणात्मक अनुशीलन किया जाता है या फिर कृति की व्याख्या के लिए कृतिकार के समय का, इतिहास का आश्रय जब समीक्षक लेता है तब उस सरणि में ऐतिहासिक समीक्षा का मान होता है। इस समीक्षा प्रणाली का मान पाश्चात्य विचारक टेन की समीक्षा पद्धति से माना जाता है। टेन ने साहित्य के अध्ययन के लिए जाति परिवेश को आवश्यक माना है।[1] उन्होंने लेखन की जीवनी का अध्ययन करने के लिए समीक्षक को लेखक के वंश तथा परिवेश के आवेष्टन को समझना अनिवार्य बताया है। मान्यता यह है कि समीक्षा से पूर्व जाति परिस्थिति तथा युग का अध्ययन अवश्य करना है। इस समीक्षामान में युग–चेतना का महत्व है। जाति परिस्थिति और युग मनुष्य को प्रभावित करते है। इस गतिशील युग चेतना के कारण समीक्षा की धारणा में अन्तर आ जाता है। वस्तुतः विज्ञान की भांति साहित्य भी आवेष्टन के प्रति प्रतिक्रिया है और उसका उद्देश्य मनुष्य का आवेष्टन से विशेष सम्बन्ध स्थापित करना है।

साहित्य का क्षेत्र मुख्यतः मानव–जीवन है। डॉ0 देवराज ने ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में समीक्षा के व्यवहार, परिधि तथा आयाम को विश्लेषित

---

[1] पाश्चात्य साहित्यालोचन और हिन्दी पर उसका प्रभाव, पृ0 130

किया है। समसामयिक युग की चेतना इस समीक्षामान के साथ जुड़ी हुई है। डॉ0 देवराज का कथन है कि अवेष्टन में भौतिक प्रकृति ही नहीं मानवता का सम्पूर्ण इतिहास और स्मृतियां भी सम्मिलित हैं।[1] ऐतिहासिक समीक्षामान का अनुसरण करने वाले समीक्षक के लिए इतिहासकार होना आवश्यक नहीं है। इस समीक्षामान को ग्रहण करने वाले समीक्षक रचनाकार के युग, धर्म और ऐतिहासिक परिवेश का अध्ययन करते हैं।

पाश्चात्य देशों में लालित्यबोध की भावना प्राचीन है। प्लेटो, अरस्तु से ही सौन्दर्य बोध का आरम्भ होता है। आगे चलकर स्वच्छन्दतावादी गेटे और शिलर ने भी सौन्दर्यबोध का प्रतिपादन किया। वोसा के शब्दों में लालित्यबोध दर्शन का विषय है।[2]

19वीं शताब्दी में कला का मूल्य सौन्दर्यबोध के साथ जुड़ गया। 'कला, कला के लिए' सिद्धांत का प्रतिपादन और समर्थन वाल्टर पेटर ने किया, जिसमें मुख्य साहित्यिक मान सौन्दर्यभाव सम्वेदन ही माना गया। उन्होंने लालित्यबोध की अभिक्रिया के अन्तर्गत तीन स्तरों का उपस्थित रहना अनिवार्य माना–1. सुन्दर उपादान की स्थिति 2. सचेतनता का भाव 3. भावनात्मक चित्तवृत्ति।[3]

---

[1] प्रतिक्रियायें, पृ0 64
[2] The history of asthetics, P. 9
[3] आधुनिक सहित्य, पृ0 408

भारत में प्राचीनकाल से ही काव्यसृजन, आस्वादन, अनुभूति आदि पर चिन्तन करते हुए विचारकों ने रस, अलंकार, वक्रोक्ति, ध्वनि, रीति तथा औचित्य सिद्धांतों की विवेचना काव्य सौन्दर्य सम्बन्धों के लिए ही की है। काव्य की विविध व्याख्याओं के साथ ही इस सिद्धांत का जिस व्यापक प्रशस्त, सूक्ष्म, मनोवैज्ञानिक एवं भाव प्रवृत्यानुसार सौन्दर्य बोधीय विवेचन हुआ है। उससे कलात्मक सौन्दर्य में अनुभूति का दर्शन होता है। हिन्दी जगत् में भी यह समीक्षामान काव्य सौष्ठव की बुद्धि के लिए छायावाद के रूप में उद्भावित हुआ। पं0 नन्द दुलारे वाजपेई ने काव्य सौन्दर्य अन्तः प्रेरित तथा अभिव्यंजक रूप में स्वीकार किया है।[1] काव्य तो प्रकृति, मानव अनुभूतियों का नैसर्गिक कल्पना के सहारे ऐसा सौन्दर्यमय चित्रण है जो मनुष्य मात्र में स्वभावतः अनुरूप भावोच्छवास और सौन्दर्य सम्वेदन उत्पन्न करता है। इसी सौन्दर्य सम्वेदन को भारतीय पारिभाषिक शब्दावली में रस कहते हैं। सौन्दर्यमूलक सभी समीक्षामान लालित्यबोधं का मुखापेक्षी होकर पल्लिवित रहा है। यह समीक्षामान साहित्य दर्शन तथा सौन्दर्य दर्शन का त्रिगुणात्मक सम्बन्ध है। साहित्यकार जीवन के सूक्ष्म सौन्दर्य भावना द्वारा सजीव बिम्ब बनाता है तो यह समीक्षामान कृति के भाव सम्वेदन को प्रतिबिम्बित करता है।

समीक्षा का मान आत्म प्रधान तत्वों की प्रधानता पर जोर देने लगा है। कृतिकार के मानसिक स्वरूप का इस मान विशेष से विश्लेषण होता है किसी

---

[1] आधुनिक सहित्य, पृ0 408

रचना की सम्प्रेषणीयता को उचित ढंग से मापने की तथा परखने की क्षमता इस समीक्षामान में होती है उसे ही प्रभाववादी समीक्षा पद्धति की संज्ञा दी जाती है। यह समीक्षामान कलापरक है। बौद्धिक रसानुभूति भले ही इससे हो जाये पर निर्णयात्मक स्थिति प्रायः दूर रहती है। हिन्दी में प्रभावात्मक समीक्षामान छायावादी युग में पल्लवित हुआ है। इसमें काव्य का हृदय पक्ष समीक्षक की आत्म–प्रवणता से आपूरित रहता है। पं0 शांतिप्रिय द्विवेदी इस समीक्षामान में भावसम्वेद्य पर अधिक बल देते हैं।[1]

समीक्षा को इस मान की व्यक्तिवादिता से देखकर आत्मप्रधानता की संज्ञा तो दी जाती है लेकिन उसका महत्व और निर्वाह युग निरपेक्ष नहीं हो पाता। इसमें केवल भावमुग्धकारी स्वरूप ही प्रकट होता है, जिससे कृति के गुण–दोषों और उसके वैशिष्ट्य को न्यायपूर्ण एवं तर्कसंगत रूप में निर्धारित करने में समीक्षक असमर्थ रहता है। व्यक्ति विशेष की चेतना से अभिभूत यह मान प्रक्रिया इतनी कृतिकार सापेक्ष बन जाती है कि गुण–दोष विवेचन भी फीका लगने लगता है।

पाश्चात्य विचारक आई0ए0 रिचर्ड्स ने व्याख्यापरक मूल्यवादी समीक्षामान की प्रतिष्ठा की, समीक्षा का सर्वाधिक और व्यापक स्वरूप इसी मान में विद्यमान है। समीक्षक निरपेक्ष दृष्टि से स्वतन्त्र मानदण्डों को लेकर कृति की व्याख्या प्रस्तुत करके सूक्ष्माति–सूक्ष्म बातों को भी पाठकों को प्रस्तुत करता है।

---

[1] सामयिक, पृ0 143

शास्त्रीय नियमों के प्रति परांगमुख होकर ही समीक्षकों ने व्याख्यात्मक समीक्षामान को अपनाया है, इसका मूल सिद्धांत है कि किसी भी रचना में प्रतिपादित विषय प्रतिपादन और अनुभव जन्य अभिव्यक्ति को दृष्टिगत रखकर, संरचना को उसके यथार्थ रूप में देखकर, निरपेक्ष रूचि स्थापित करना एवं समीक्षक को साहित्यिक रचना में गहराई तक उतर कर उस रचना के अन्तर्मन में निहित भावात्मक तत्वों का उद्घाटन करना होता है। पाश्चात्य विचारक कार्लाइल एवं मैथ्युआर्नोल्ड इस समीक्षामान को जीवन के बहुत निकट देखते हैं।[1] इसमें काव्य को जीवन की व्याख्या करने का माध्यम स्वीकार किया गया है। इस दृष्टि से कवि की अन्तःप्रवृत्तियाँ इस समीक्षामान से उद्घाटित होती हैं।

हिन्दी में इस समीक्षामान का सूत्रपात आचार्य शुक्ल ने किया। शुक्ल जी की दृष्टि जीवन और जगत् के व्यक्त एवं गोचर व्यापारों की ओर उन्मुख रही हैं। उन्होंने साहित्य को सीमित या एकदेशीय स्वरूप की अपेक्षा उसके असीम और सार्वदेशीय स्वरूप की अधिक प्रशंसा की है।[2] व्याख्यात्मक समीक्षामान में समीक्षक कवि की भावनाओं में प्रवेश कर उसके भावों को समझने का प्रयास करता है। वह कवि के भावनाओं के आधार पर ही समीक्षा में पुनः सृजन करता है। व्याख्या उस कृति में की जाती है जहां कलाकार की चित्त–दृष्टि सार्वदेशिक बनकर कला का पुनः निमार्ण करती है। यह समीक्षामान वैज्ञानिक है।

---

[1] History of english literature, P. 143
[2] भ्रमर गीत सार, पृ० 2

दो कवियों की परस्पर तुलना से पाठकों के मन पर किसी कवि की श्रेष्ठता का निरूपण या इस तुलनात्मक सिद्धान्त के अन्तर्गत समीक्षक साहित्य या फिर कवियों की शैलियों पर किसी एक लेखक का व्यापक प्रभाव स्पष्ट करने की चेष्टा की जाती है, जिसे तुलनात्मक समीक्षामान कहते हैं जैसे– महाकाव्य परम्परा में तुलसीदास का, गीत काव्य परम्परा में जयदेव का और आधुनिक नाट्य परम्परा में भारतेन्दु का विशिष्ट स्थान है। तुलनात्मक समीक्षा के समर्थन प्रो0 सेन्ट्सबरी हैं जिन्होंने कवियों को तुलनात्मक अध्ययन में सिद्ध करते हुए इसे सर्वोच्च समीक्षामान ठहराया है।[1]

इस समीक्षामान में ऐतिहासिक एवं वैचारिक दृष्टि से तुलनात्मक अनुशीलन किया जाता है तथा देशों की विभिन्न साहित्यगत प्रणालियों अथवा एक ही देश के साहित्यकारों का तुलनात्मक अध्ययन इसमें होता है। किसी कवि की कविता पढ़कर उसके किसी विशेष समुन्नत पक्ष को प्रशंसात्मक ढंग से सूक्ष्म रूप में कहना ही तुलनात्मक परिधि में आता है।[2]

मनोवैज्ञानिक समीक्षामान हिन्दी में अजीव की ईंट बना हुआ है। इस समीक्षामान में कृति एवं कृतिकार का पारस्परिक सम्बन्ध तथा कृति में पड़े हुए उसके मानसिक प्रभाव का विश्लेषण होता है। फ्रायड ने मनुष्य की सभी कामना एवं इच्छा को काम प्रेरित मानकर कर्म–पथ की ओर अग्रसर होने की

---

[1] आलोचना इतिहास तथा सिद्धांत, पृ0 141

[2] सूर, तुलसी, ससि उडगन, केशवदास अब के कवि खद्योत सम जहँ–तहँ करत प्रकास

बात कही है उसके अनुसार इन भावनाओं की अभिव्यक्ति स्पप्न, साहित्य तथा कला के माध्यम से होती है।[1] एडलर ने फ्रायड की भांति अवचेतन मन में दमित इच्छाओं को रचनात्मक प्रक्रिया में महत्वपूर्ण स्थान दिया है। रचनात्मक प्रक्रिया अवचेतन मन की अभिव्यक्ति है–ऐसा इस समीक्षामान में समझा जाता है।

हिन्दी में मनोवैज्ञानिक समीक्षामान का प्रसार तथा प्रभाव डॉ0 नगेन्द्र, पण्डित इलाचन्द जोशी और अज्ञेय की कृतियों में परिलक्षित होता है। साहित्यकार के व्यक्तिगत तथा साहित्यिक प्रवृत्तियों के विश्लेषण और व्याख्या के लिए यह नवीन मार्ग 20वीं शताब्दी में खुल गया जिससे रचनाकर्ता और कृति के मूल सम्बन्ध को स्पष्ट करने में सुविधा हुई। मनोवैज्ञानिक समीक्षामान के अन्तर्गत कई प्रकार के अध्ययन किये जाते हैं, यथा लेखक को विशिष्ट इकाई मानकर अध्ययन करना, व्यक्ति के रूप में उसका अध्ययन करना, उसकी सृजन–प्रक्रिया का अध्ययन करना, साहित्य एवं समाज के सम्बन्धों का अध्ययन करना आदि।

निश्चित शास्त्रीय सिद्धान्तों के आधार पर किसी रचना का मूल्यांकन करना निर्णयात्मक समीक्षामान कहलाता है। साहित्यकारों की साहित्यिक श्रेष्ठता के साथ उसमें उनका स्थान निर्धारित करना भी इस मान का लक्ष्य है। किसी भी वस्तु या कार्य पर निर्णय देने के लिए हमें किसी ऐसे आधार की आवश्यकता होती है, जिसके आलोक में निर्णय दिया जा सके। लौञ्जाइनस

[1] Introductory literature on psychology, P.30

उदात्तता को भाषा की चर्मोत्कृष्टता से सम्बन्धित करके इसी को महान लेखकों की ख्याति का साधन और कारण मानते हैं।[1]

भारतीय विचारकों ने सौन्दर्य मूलक सिद्धान्तों का आश्रय लेकर निर्णयात्मक समीक्षा को उजागर किया है उनका यह निर्णय पक्ष कि सूर से तुलसी श्रेष्ठ और 'कामायनी' से 'रामचरितमानस' इसी समीक्षामान का उदाहरण है। निर्णायक अपनी रूचि या आस्था के अनुसार कृति विशेष का अवगाहन करके निर्णय दिया करता है। इसलिए उसका निर्णय भिन्न सिद्धान्त के आधार पर किये गये निर्णय से बिल्कुल भिन्न होता है। किसी भी देश के समीक्षा के इतिहास में हम ऐसे असंख्य उदाहरण प्राप्त करते हैं जहां एक ही रचना कवि या काल के विषय में समीक्षकों में मतभेद है फिर भी कुछ आयामों पर समीक्षा के मान क्रमागत परम्परा से निश्चित कर दिये गये हैं।[2]

आज की नई समीक्षा को समझने के लिए नव लेखन के स्वरूप को समझना आवश्यक है। साहित्यिक वादों में समीक्षा विधा ने भी अपने वादों की रचना कर ली हैं, यथा–प्रगतिवाद, प्रयोगवाद/प्रयोगवादी या नई समीक्षा में कुछ नये बोध, सम्वेदनायें तथा उन्हें प्रस्तुत करने वाले शिल्पगत चमत्कार सम्मिलित हुए हैं। इस प्रणाली में अनुभूति की सच्चाई और बुद्धिमूलक यथार्थवादी दृष्टि नवीन जीवन चेतना के स्वरूप में दृष्टिगत होती है। देश काव्य के परिप्रेक्ष्य में प्रयुक्त मुहावरों परिस्थितियों और व्यक्तियों के प्रयोगों के आधार पर मानव

---

[1] Making of literature, P. 86

अनुभूति तथा आकांक्षा का ऐसा एंद्रजालिक स्वरूप सामने आता है जो आधुनिक अवबोध की सीमाओं का अतिक्रमण कर नवीन सन्देशवाहक बन जाता है। अमेरिका में इस नई धारा के प्रबल समर्थक कार्लसैन्डस, वर्ग लिन्डसे और एडिगर है, जिन्होंने शब्द चयन की दृष्टि से सामान्य विषय को काव्य का उपजीव्य स्वीकार किया है।[1]

हिन्दी में इस प्रणाली के जागरूक विचारक अज्ञेय हैं वे आत्मवादी समीक्षक भी हैं उन्होंने कवि कलाकार के मन को एक भण्डार कहा है,[2] जिसमें अनेक प्रकार की अनुभूतियाँ शब्द एवं विचार इकट्ठे होते हैं। कलाकार का आत्मदान कला के रूप में तब प्रकट होता है जब वह अपनी प्रतिभा को प्रभाव से एक नया मार्ग प्रस्तुत करता है। हिन्दी की नई समीक्षा के मानों में जिन चिन्तन आयामों को उद्घाटित किया गया है उनमें भाषागत शिल्प तत्व प्रधान है। इनकी व्यक्तिवादी जीवन दृष्टि यथार्थ के प्रति उन्मत्तता, रूढ़ियों के प्रति विद्रोह से आपूरित हैं। नवीन भावों और नवीन रचना पद्धति से यह समीक्षामान विशिष्ट महत्वपूर्ण हैं।

20वीं शताब्दी में समीक्षा का प्रमुख मानदण्ड प्रगतिवादी या समाजशास्त्रीय है, जिसमें सामाजिक यथार्थ का सही और मार्मिक उद्घाटन होता हैं। यह धारणा कार्लमार्क्स के सिद्धान्त पर आधारित है। पाश्चात्य विचारक

---

1 Literature of United States.P.247
2 त्रिशंकु, पृ0 13

विलियम ने बताया है कि यह समीक्षामान वर्गगत प्रचार के साथ ही क्रान्तिकारी भावनाओं को प्रश्रय देता है।[1]

इस प्रकार की समीक्षा में आर्थिक और सामाजिक स्वरूपों को विशेष महत्व प्रदान किया जाता है। इस आधुनिक समीक्षा पद्धति को प्रगतिवादी, मार्क्सवादी, सामाजिक यथार्थवादी, ज़नवादी तथा सोवियत समीक्षा पद्धति आदि नाम दिये जाते हैं। कला एक साधन है, उसके द्वारा मनुष्य वास्तविकता का अध्ययन करता है। आधुनिक युग में यदि हम साहित्य के क्षेत्र में श्रमिक जनता का जीवन और उनका वर्ग संघर्ष निकाल दें तो जो कुछ शेष रहेगा वह शोधक वर्ग का अनुभव एवं और उसकी विचारधारा होगी। मार्क्सवादी लेखक जिस प्रणाली को अपनाते रहे हैं उसे हम सामाजिक यथार्थवादी प्रणाली की संज्ञा दे सकते हैं। रागात्मक हृदय पक्ष के स्थान पर सामाजिक यथार्थ और पलायन के स्थान पर समाज सापेक्षता इस पद्धति की धारणा है।

हिन्दी समीक्षा के उपर्युक्त बदलते मानदण्ड आज समय सापेक्ष समाजवादी भावना को दृढ़ता से समन्जित हो रहे हैं। भावनाओं का आश्रय, शास्त्रीयता का आश्रय आज के समाज के लिए कोरी–कल्पना है। यथार्थ की पकड़ के लिए आज के भोगे हुए क्षणों को समाजवादी तत्व ही ग्रहीत कर सकते हैं। इस प्रकार ठोस धरातल पर आज जनवादी आन्दोलन के सहारे समाजशास्त्रीय हिन्दी समीक्षक जीवंतता के साथ जी रहा है।

---

[1] A short history of literatary critisism, P.

(घ) समाजशास्त्रीय हिन्दी समीक्षा-परिधि और दिशायें :

साहित्य के अन्तर्गत वस्तु और कला की सापेक्षिक स्थिति का प्रश्न तो प्रारम्भ से ही साहित्य-चिन्तन के एक प्रमुख रूप में चर्चित रहा है परन्तु मार्क्सवादी साहित्य चिन्तन के अन्तर्गत उसे विशेष प्रमुखता प्राप्त हुई, इस प्रमुखता का एक प्रधान कारण मार्क्सवाद दर्शन का ही वस्तुमुखी वस्तुवादी दर्शन होता है। प्रायः प्रत्येक मार्क्सवादी साहित्य चिन्तक ने वस्तु और रूप की इस अभिन्नता को ही सच्ची कला का गौरव दिया है। यह वस्तुवादी रूप समाजशास्त्रीय समीक्षा का मूलाधार है। मार्क्सवादी साहित्यिक चिन्तक कविता या कला की रचना प्रतिक्रिया पर यथार्थ दृष्टि से विचार करते हैं। सामाजिक जीवन से प्राप्त जीवन्त प्रेरणाओं का आधार लेखक समाजशास्त्रीय चिन्तक रचना को नई भूमि प्रदान करता है। कला तथा कविता जन-जन तक सम्प्रेष्य हो इस तथ्य पर समाजशास्त्रीय समीक्षा में बल दिया गया है। विचारक काडवैल ने बड़े ही स्पष्ट शब्दों में अभिव्यक्तिपरक माध्यमों को इस सामाजिक रूप में विवेचित किया है।[1] जब ये अभिव्यक्ति का माध्यम सामाजिक आधार छोड़ देते हैं अर्थात जब रचनाकार सामाजिक जीवन से कटकर आत्मकेन्द्रित हो जाता है तब प्रभाव क्षमता घट जाती है और सामाजिक की गहरी भूमिका एकांगी हो जाती है।

साहित्य और यथार्थ का सम्बन्ध समाजशास्त्रीय समीक्षा की प्रक्रिया है। हारवर्ड फास्ट ने 'साहित्य और यथार्थ' शीर्षक निबन्ध लिखकर आलोच्यमान को स्पष्ट किया है। उनके अनुसार वाह्य यथार्थ से सम्पर्क में आने के

---

[1] Ileusion and reality, P. 108

साथ–साथ रचनाकार सम्पूर्ण वाह्य यथार्थ को अपने मानस का अंग नहीं बनाता, वह चुनाव करता है। वाह्य यथार्थ ज्यों का त्यों उसके मानस में अंकित नहीं होता। रचनाकार का सृजित मानस उसे अपने अनुरूप नई शक्ल देता है इसके अनन्तर रचनाकार की भावना, कल्पना, प्रतिभा और शिल्प में एवं अपनी–अपनी भूमिका अदा करते हैं। रचना वाह्य यथार्थ के चुने हुए तथा नवीन आकृति में ढाले गये अंशों, अनुभवों तथा सम्वेदनाओं का छना हुआ रूप है। उसमें मनुष्य के सम्पूर्ण अर्जित संस्कारों, परम्पराओं का योगदान होता है। समाज के विकास के आधार पर साहित्य रचना को एक दृष्टि प्रदान की जाती है तथा उस दृष्टि के तहत समीक्षा दृष्टि को अभिनव आयाम चुनने पड़ते हैं। चूंकि जीवन मनुष्य के संघर्ष से ही सम्बन्धित है। इसलिए साहित्य में ऐसे कथ्य की सृष्टि का प्रश्न यथार्थ साहित्य की समस्या बन जाता है। श्री शिवदान सिंह चौहान 'साहित्य की समस्यायें' कृति में लिखते हैं –"जिनकी भाव–भूमि और मनोभूमि समाज की चरम स्थितियों को उद्‌घाटित करती हों, जो लेखक की कल्पना में जन्म लेकर उसकी कृति में प्रस्तुत की गयी परिस्थितियों से क्रिया प्रतिक्रियात्मक रूप से सम्बन्ध अर्थात् स्वयं अपना सक्रिय अर्थ रखते हों न कि लेखक के हाथ की कठपुतली हो।[1]"

वस्तुतः जग के वर्गगत पात्र जिनके व्यक्तिगत में विशेष और साधारण समन्वय के सत्य जुड़े हों, जिनका जीवन समाज के जीवन के आंगिक रूप से सम्बन्धित हो ऐसे पात्रों में विशेष और सामान्य का गत्यात्मक सम्बन्ध

---

[1] साहित्य की समस्यायें, पृ0 66

उपस्थित किया जाता है। समाजशास्त्रीय हिन्दी समीक्षा चिन्तन वैशिष्ट्य की दृष्टि से गत्यात्मक ही है।

हिन्दी साहित्य में समाजवादी समीक्षा का प्रादुर्भाव छायावाद की परिसमाप्ति के बाद हुआ। पूर्व युगों में समीक्षा परिधि का आयाम नैतिकतावादी और मानवतावादी ही रहा था। लेकिन विचारधारा का साहित्य के अन्तः सम्बन्ध जुड़ने से यह समीक्षा पद्धति विद्रोहात्मक हो गयी। परिणामस्वरूप जहां हम आदर्शवादी मान्यताओं के घेरे में घिरे थे वहां हम भौतिकवादी दृष्टिकोण से पनपने लगे। आदर्शवादी दृष्टि के मूल में चेतनसत्ता की उपस्थिति का आग्रही है तो भौतिकवादी इसके मूल में पदार्थ की उपस्थिति का प्रतिवादी है। भौतिक चिन्तन के विकास में समाजशास्त्रीय हिन्दी समीक्षा को अभूतपूर्व सहयोग मिला है। भौतिक विश्व का विश्लेषण करने में इसी पद्धति ने कामयाबी हासिल की। वस्तु संयोजना सामाजिक जीवन के संदर्भ में विवेचित की गयी। समाजवाद के नये नारे ने सापेक्षिक सिद्धान्त की रचना की तथा वस्तु और विषय को विचारधारा से नियंत्रित कर लोकहितवादी सिद्ध कर दिया।

समीक्षा 20वीं शताब्दी के अस्तित्व को कायम रखने के लिए और अपनी अस्मिता को जानने–पहचानने के लिए अनेक दिशाओं में भ्रमित होकर अन्ततोगत्वा समाजशास्त्रीय परिधि में समाहित हुई। हर पाठक कृति का सृजन अपने स्तर पर करता है। सृजन की प्रक्रिया में समीक्षक समाजवादीमान से क्रियान्वित होता है। इस विश्लेषण पद्धति से समीक्षा के अभिनव आयाम ठोस

धरातल पर अवतरित होते हैं। मार्क्सवादी सौन्दर्य शास्त्र समाजवादी संरचना पर टिका हुआ है। समाजशास्त्र और सौन्दर्यशास्त्र आज के युग में अन्योन्याश्रित स्थल बन गये हैं। प्रगतिशीलता और वैज्ञानिक समाजवाद के नाम पर यद्यपि दलगत राजनीति का अखाड़ा भी साहित्यकार के सामने उपस्थित है। साहित्य के विराट सांस्कृतिक रूप को, सामाजिक स्थिति को परखने के साथ आज का समीक्षक सौन्दर्य बोध का अन्वेषण करता हुआ दृष्टिगत हो रहा है।

कला और साहित्य की दृष्टि का बोध समीक्षक को ही है। नागरिक के रूप में अपनी सामाजिक भूमिका के निर्वाह के लिए आज का समीक्षक अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता के प्रश्न में संघर्षरत है। इस स्थिति की भी उपेक्षा नहीं की जा सकती है कि पूर्वाग्रह ने साहित्य का व्यवसायीकरण कर साहित्य के सारे सृजनात्मक मूल्यों और उसके महान सामाजिक उद्देश्यों के लिए खतरा पैदा कर दिया है। हमारे साहित्य को जनता के जीवन, उसकी आकांक्षाओं और उसके संघर्षो से सम्पृक्त कराने का श्रेय समाजशास्त्रीय हिन्दी समीक्षा को है। समाजशास्त्रीय हिन्दी समीक्षा में लेखक की रचनात्मक शक्ति संयुक्त और संगठित होती है। चिन्तक युग सत्य के साथ ही जीवन के क्रमिक विकास में निहित शाश्वत सत्य के आकलन का प्रयत्न करते हैं। आशाओं, आकांक्षाओं और अनुभूति के उन्मुक्त प्रभाव को इसमें परम्परामुक्त अभिनव स्वरूपों में अभिव्यक्ति मिली है।

भारतीय संस्कृति के उदात्त तत्वों का अभूतपूर्व समजंन निष्पक्षता से समाजशास्त्र में मिला है। समाज बोधीय सौन्दर्य के संश्लिट चित्र कथा–साहित्य में प्रगतिवादी समीक्षक के द्वारा ही पहचाने गये हैं। कथन है–"प्रेमचन्द्र के आदर्शोन्मुख यथार्थ और चतुरसेन के प्रकृतिवादी यथार्थ की दो धारायें मिलती है जो सम्पूर्ण युग को घेर कर चलती है। यथार्थ के चार रूप ही सामने आते हैं जिन्हें हम यथार्थोन्मुख आदर्श, मनोविश्लेषणात्मक या व्यक्ति निष्ठ यथार्थ, साम्यवादी या समाजवादी यथार्थ और तटस्थ या वैज्ञानिक यथार्थ की संज्ञा दे सकते हैं।"[1] उपन्यासों के सम्पूर्ण जीवन चित्र को समाजशास्त्रीय समीक्षा ने अनुशीलित किया है। उसमें स्वातन्त्र्य आन्दोलन से लेकर सुधारवादी सांस्कृतिक राजनैतिक और आर्थिक पृष्ठभूमि का सफल निरूपण मिलता है। इस समीक्षा पद्धति में देश की समसामयिक स्थिति के साथ ही अन्य वाह्य प्रभाव रूप में निर्वाहित हुए हैं। समसामयिक हिन्दी समीक्षा में समाज की जनशक्ति को पहचाना गया है। कला की सत्यता तथा लेखक की स्वतन्त्रता का प्रश्न सदैव इसके साथ विश्लेषित हुआ है। साहित्य, लेखक, रचनाकार के माध्यम से समाज, इतिहास, व्यक्ति से जुड़ा रहता है। इसी अर्थ में जन–जीवन के सजीव प्रहरी समीक्षक की सापेक्ष स्वतन्त्रता है।

समाजशास्त्रीय समीक्षा का वृहद आयाम शोषित वर्ग के बहुपरीक्षित सत्य के साथ जुड़ा हुआ है। शासक, शोधक वर्ग, सर्वहारा व शोषित जनसमूह की राजनीति और विचार धारा के प्रतिनिधित्व पर फासिस्टी दमन चलाया है।

---

[1] आलोचना उपन्यास विशेषांक '1954', पृ0 86

पूंजीपति, सामन्ती वर्गों की राजनीति ने एक दलीय अधिनायकवाद की ओर कदम बढ़ाने शुरू कर दिये हैं। इसका प्रतिफलन समीक्षा के नये स्तरों पर हुआ है। जनवादी लेखक परम्परा के जड़त्व को उखाड़ फेंकने के लिए व्यग्र है। भोगे हुए क्षणों की परिव्याप्ति को लेकर आज का समीक्षक अपना अभिनव मार्ग प्रस्तुत कर रहा है। प्रगतिशीलता के सम्बन्ध में युग–सत्य आज के समीक्षक के सामने उभर कर आया है। प्रगतिशील समीक्षा का जब प्रश्न उठता है तो उसके पीछे किसी विशेष दार्शनिकवाद की विशेषता का, मान्यता का आग्रह नहीं किया जा सकता है। मार्क्सवादी साहित्यकार पाठक को स्वस्थ प्रेरणायें देता है। वास्तव में जीवन की मार्मिक एवं सारगर्भित स्थितियों का चित्रण समाजशास्त्रीय पक्ष ने ही किया है। मार्क्सवादी साहित्य महान है, उसमें तत्कालीन सामाजिक मान्यतायें तीव्र आक्रोश के साथ स्पष्ट होती है। श्री चौहान ने लिखा है–"प्रत्येक महान कला कृति में तत्कालीन वर्ग समाज की परम्पराओं के प्रति गहरा प्रतिवाद मिलता है और अपनी युग की विकास सम्भावनाओं की सीमा में एक नई मानवीय नैतिकता के निर्माण के प्रति गहरा मोह प्रकट करता है। साहित्य और कला इसीलिए नैतिक होती है। कोई भी लेखक असत्य और अनैतिकता के गारे से महान कला की इमारत खड़ी नहीं कर सकता है"।[1]

समकालीन साहित्य सृजन में समाजशास्त्रीय समीक्षा का वृहतसंकुल जनक्षेत्र है। साहित्य जिस द्रुतगति से विकसित होता रहा है उसके सांस्कृतिक मूल्यों में जितनी तेजी से परिवर्तन हो रहा है तथा उसकी भाव–भूमि

---

[1] साहित्य की समस्यायें, पृ0 66

में गहन क्षोभ आ गया है। यह सब क्रान्ति दर्शिता का परिचायक है। समाजवादी समीक्षा नवीनतम चेतनाओं को ग्रहण करने की एक आतुर प्रक्रिया है। साहित्यिक चेतना अपनी परम्परागत सीमाओं को तोड़कर देश–विदेश के जिन क्षितिजों को छूकर समृद्ध होती जा रही है, उसे देखते हुए सृजन के साथ–साथ समीक्षात्मक वृत्ति का इस तरह जाग उठना और क्रियाशील हो जाना स्वाभाविक ही है।

समाजशास्त्रीय हिन्दी समीक्षा क्रियाशील अवश्य है किन्तु अपने समकालीन परिस्थितियों की सापेक्षता में उसने अपने गम्भीर दायित्व को उतनी तीव्रता से परिपालित नहीं किया है जितनी कि उसकी भूमिका है। हिन्दी समीक्षा इतनी बौनी क्यों रह गयी उसके साथ यही शाश्वत प्रश्न जुड़ा हुआ है कि समीक्षात्मक मान भोथरे और दरिद्र है। न तो वह परम्परागत श्रंखला की कड़ी है और न विशिष्ट समाज व्यवस्था की सांस्कृतिक निधि। दुर्भाग्य से हिन्दी समीक्षा परिधि में वह त्रुटि प्रत्येक वाद के साथ हुई है। बहुधा यह भी देखा गया है कि समीक्षकों के दलों ने इस एकाग्रता को ही अपनी विशिष्टता के रूप में प्रचारित किया है और अज्ञानवश अपने एकांगी मार्ग के अतिरिक्त अन्य सभी मार्गो का सक्रिय विरोध किया है। एक ओर वे लोग रहे जिन्होंने परम्परा के नाम पर, शास्त्रीयता के नाम पर उन रूढ़ियों का समर्थन किया जिनका सारा अर्थ जीवन्त सांस्कृतिक सापेक्षताओं में नष्ट हो चुका था। तभी तो लेनिनवादी सर्वहारा वर्ग के

समर्थक श्री शिवदान सिंह चौहान ने समीक्षा की स्वायत्तता और स्वतन्त्रता पर बल देते हुए कहा कि समाजशास्त्रीय समीक्षा साहित्य का अस्त्र है।[1]

समाजशास्त्रीय समीक्षा की परिधि में परम्परा का ऐतिहासिक मूल्य भी सम्मिलित है। हिन्दी समीक्षा के क्षेत्र में मार्क्सवादी समीक्षा के प्रवेश के साथ ही इस बात की सम्भावना दीख पड़ी कि वर्ग संघर्ष और जनवादी परम्परा के जटिल रूप को समझे बिना समस्त प्राचीन संस्कृति को समानतावादी संस्कृति का करार नहीं दिया जा सकता है। यद्यपि इनके नारे में सामाजिक उपादेयता की सूक्ष्मता निहित रही है। साहित्य की महत्ता और सामाजिक उपयुक्तता इसी में है कि वह हमारी चेतना में बहुत गहरे उतर कर हमारे वृत्तियों को संस्कारित करे। साहित्यकार अपने स्तर पर अपने ढंग से संस्कृति की विराट प्रक्रिया में योग देता है। रसानुभूति और सौन्दर्यबोध उसके माध्यम हैं और युगकाल एवं परिस्थितियों के अनुसार जैसी भी जटिलतायें होती हैं वैसी ही सूक्ष्म तथा अप्रत्यक्ष रीति से वह अपना कार्य करता है। साहित्य को उपयोगितावाद की तुला पर तोलते हैं तब मुंशी प्रेमचन्द के आदर्शोन्मुख यथार्थवाद के प्रतिबिम्बन का समाजशास्त्रीय समीक्षा मे स्वरूप मिलता हैं उनका मत है कि यदि हम उनकी दशा में वास्तविक सुधार करना चाहते हैं तो हमें उनके बीच रहना चाहिए और साहित्य को उपयोगी बनाना चाहिए।[2]

---

[1] साहित्यानुशीलन, पृ0 68

[2] प्रेमचन्द घर में, पृ0 232

समाजशास्त्रीय समीक्षा में यथार्थवादी साहित्य की विशेषतायें परिगणित की जाती हैं। जीवन के आदर्श एवं उद्देश्य को लेखक एक यथार्थ की भूमिका पर परखता है। कलाकृति उतनी ही सशक्त हो उठती है। एंगिल्स की मान्यता इस दृष्टि से स्मरणीय है। मनुष्य की प्रगति में यथार्थ परक कला–साहित्य सहयोगी बनता है। समाजवादी यथार्थवाद का काम वर्तमान–भूतकाल की आलोचनात्मक छवि नहीं वरन् सबसे पहले वर्तमान क्रान्तिकारी सफलताओं को समेटने में सहायता करना और भविष्य के महान समाजवादी उद्देश्य पर प्रकाश डालना है।[1] समाजवादी यथार्थवाद हमारा पथ प्रदर्शक होता है वह हमारे मनुष्यत्व को जगाता है उसमें सद्भावों का संचार करता है। हमारी दृष्टि को फैलाता है। मार्क्स ने साहित्य में ऐसे ही कथ्य एवं शिल्प को स्थान दिया है जिसमें साहित्य श्लील और अश्लील बन्धन से मुक्त है और मार्क्सवादी मान्यता झुठला दी जाती है।

समाजशास्त्रीय समीक्षा साहित्य और जीवन का सम्बन्ध मानकर चलती हैं। साहित्य को जीवन का आधार मिलता है। अतः साहित्य में वे सभी तत्व मिलते हैं जिनका स्वरूप जीवन के आधार पर टिका है। आज जैसे–जैसे जीवन पद्धति बदल रही है उसी के अनुसार विचारधारा साहित्य एवं साहित्य के समीक्षा के सिद्धान्त भी बदल रहे हैं। आज की बदली हुई स्थिति में झुग्गी–झोपड़ी और खण्डहर साहित्य के कथ्य बन रहे हैं। इसलिए मार्क्सवाद ने संकीर्ण देश भक्ति की अपेक्षा सार्वभौमिकता पर बल दिया है। समाजशास्त्र

---

[1] Selected work, Page 413

मानवतावादी एक परिधि है, जिसमें साहित्य को एक साथ राष्ट्रीय और सार्वभौमिक स्वीकार कराने वाली मान्यतायें सच्चे साहित्य की कसौटी बनती है। साहित्य परिवेशजन्य होता है साथ ही सार्वभौमिक भी। लेनिन ने साहित्य की गम्भीर मान्यताओं को स्वीकार करते हुए उसे कोटि–कोटि जनता के हास्य, रूदन, हर्ष, शोक, विजय, संघर्ष, प्रेम और आशा का माध्यम घोषित किया है।[1] सामाजिक जीवन के प्रति प्रगतिशील साहित्य सजग है और प्रगतिशील साहित्य में जीवन के मौलिक तथ्यों का समन्वय भी है।

समाजशास्त्रीय समीक्षा में भौतिकवादी जागतिक अंश विशेष रूप से परिपल्लिवित होते हैं। द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के अनुसार सारी सृष्टि सतत् विकासशीलहै।[2] सृष्टि की घटनाओं एवं पदार्थो से अलग रहकर कोई भी वस्तु अपना विकास करने में असफल होती है। विकासक्रम का सिद्धान्त द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद पर ही लागू है। द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के अनुसार नवीनता अनवरत प्रगति और विकास की परिचारिका है। वस्तुतः यथार्थ के विकास की क्रिया भौतिकवादी मान्यता से जुड़ी हुई है, जिसमें मानवीय जीवन का विडम्बनामय चित्रण अति वैयक्तिवादी कलाकारिकता से विमुख होकर चित्रित किया जाता है। भौतिक परिस्थितियों से तटस्थ या निरपेक्ष रहकर भावात्मक मान्यताओं से काव्य का आकलन नहीं कहा जा सकता है। मार्क्सवादी समीक्षक इन तमाम मान्यताओं

---

1 What is dialectical materialism, Page 85
2 Literature and Reality, Page 68

में आर्थिक भौतिकवादी दृष्टिकोंण को ही वरीयता देते हैं। समाजशास्त्रीय समीक्षा वृत्ति में भविष्य की आस्था है, आकांक्षा है एवं त्रस्त मानवता का कल्याण है।

मानवतावदी सांस्कृतिक धरातल को छूने का कार्य समाजशास्त्रीय हिन्दी समीक्षा ने ही किया है। समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण मार्क्सवादी का स्थाई तो नहीं लेकिन प्रतिनिधित्व करने वाला अवश्य हैं सामाजिक मानवतावाद ही उसके समाधान की खोज है जिसे अच्छे अर्थो में डॉ0 हजारी प्रसाद द्विवेदी ने मानवतावाद की संज्ञा से अभिहित किया है। उनका मत है कि मानवतावादी लेखक मनुष्य को पशु सामान्य धरातल से ऊपर का वास्तविक धर्म मानता है, विश्वास करता है कि यद्यपि मनुष्य में बहुत पशु–सुलभ वृत्तियाँ रह गयी हैं तथापि उसने तप, सौन्दर्य प्रेम और परदुःख कातरता जैसे गुणों को विकसित किया है। वे गुण ही मनुष्य, मनुष्यता की निशानी हैं।[1]

मानवीय मूल्यों के संदर्भ में समाजशास्त्रीय समीक्षा जुड़ी हुई है। हम चाहे परम्परा का मूल्यांकन करें, चाहे सामाजिक उपादेयता की माप करें हम मानवीय आधार से स्खलित नहीं होते। साहित्य का मर्म और कर्म मानवीय धरातल ही है। समीक्षक को किसी भी कृति की सामाजिक मानवीय मूल्य का मूल्यांकन करते समय इन जटिल सूक्ष्मताओं को ध्यान में रखना पड़ता है। संस्कृति केवल धार्मिक कट्टरता, राजनैतिक अवसरवादिता और सतही नैतिकता से अधिक व्यापक है। उसका केन्द्र मनुष्य का समग्र अस्तित्व है जो कहीं अधिक

---

[1] हिन्दी साहित्य, पृ0 43

गहन और बहिर्मुखी है। संस्कृति और समाज व्यवस्था के तात्कालीक दीर्घसूत्री विषय के सम्बन्धों के विषय में मार्क्स ने और उनके अनुमोदक समीक्षकों ने मानवशास्त्र तथा उनकी जटिलताओं का विश्लेषण करने का प्रयास किया। निःसंदेह कलाकार और समीक्षक दोनों ही सांस्कृतिक स्तर के पक्षधर हैं।

समाजशास्त्रीय समीक्षा की परिधि और आयाम लोक तत्वों को समुचित प्रश्रय देते हैं। लोकवादी साहित्य वर्तमान समाज व्यवस्था का एक सांस्कृतिक अंग है। समाज द्वारा मान्य नैतिक धारणाओं की कसौटी पर साहित्य को कसने का प्रयास इसमें नहीं किया जाता है। समाजशास्त्रीय समीक्षा की मौलिकता यह है कि साहित्य की सामाजिक महत्व के प्रतिपादन में तथा उसे राजनैतिक संघर्ष और क्रान्ति दर्शन में एक महत्वपूर्ण प्रचार का स्थान बनाये, जिससे साहित्य के सामाजिक उपयोग को ठीक–ठीक समझा जा सके। कोई भी साहित्यिक कृति अपने में निर्पेक्ष, निःसंग और युग से असम्पृक्त नहीं होती, वह समाज की बहिर्मुखी सांस्कृतिक कृतित्व का अंग मात्र होती है। समाजशास्त्रीय समीक्षा में इस विशिष्टता को लेकर युग–सत्य को निरूपित किया जाता है।

* * *

द्वितीय अध्याय

समाजशास्त्रीय हिन्दी समीक्षा के मूल स्रोत एवं परिवर्ती प्रभाव

(क) पाश्चात्य समाजशास्त्रीय समीक्षा :

वस्तुतः कार्ल मार्क्स 20वीं शताब्दी के महान महर्षि हैं। मार्क्स का द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद विश्व का सतत् परिवर्तनशील और विकासशील अवस्था में मूल्यांकन करता है। द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद की जीवन और जगत् के विषय में निश्चित मान्यतायें हैं। परिवर्तन की प्रक्रिया का मूल आधार मार्क्सवादी दृष्टि है। वैचारिक असंगतियों और अन्तर्विरोधों का निराकरण मार्क्स के चिन्तन सूत्रों द्वारा हुआ है। मनुष्य का ध्यान आकृष्ट करते हुए मार्क्सवादी अवधारणा सामाजिक द्वन्द्व को मुख्य मानती है। यह सिद्धान्त वर्ग संघर्ष और वर्ग विरोध पर आश्रित है। कार्लमार्क्स ने मजदूरों की गरीबी पर तर्क किया कि सम्बन्धों के वस्तुगत स्वभाव को नजरअन्दाज करने और हर बात की व्याख्या क्रियारत व्यक्तियों की इच्छा से करने का अधिकार किसी को भी हो सकता है तथापि ऐसे सम्बन्ध भी होते हैं जो निजी व्यक्तियों के कार्यों के निर्णायक होते हैं, जो उतने ही स्वतन्त्र होते हैं जितना कि सांस लेना।[1] सामाजिक वास्तविकता की यह धारणा द्वन्द्वात्मक है जो एक विशिष्ट सामाजिक वर्ग, औद्योगिक मजदूर वर्ग के साथ अपनी पहचान

[1] Writings of Young Marx, Page 144

बनाता है। परिणाम स्वरूप द्वन्द्वात्मक पद्धति सामाजिक सिद्धान्त का प्रमुख प्रतिमान रही है।

द्वन्द्वात्मक पद्धति के संघर्ष पक्ष में अन्तर्विरोध वर्ग द्वन्द्व, व्यक्ति अन्तर्द्वन्द्व सम्बन्धी मान्यतायें हैं। मार्क्सवादी द्वन्द्वात्मक पद्धति तथा सामाजिक मतैवध संतुलन और व्यवस्था पर आधारित एक राजनैतिक संरचनाओं के विश्लेषण के लिए एक विशिष्ट पद्धति है। 18वीं शताब्दी के क्लासिकल भौतिकवाद ने व्यक्ति और वस्तु के बीच एक कठोर विभाजन किया। व्यक्ति परक तत्व चेतना को एक सक्रिय बल के रूप में यांत्रिक भौतिकवाद और 19वीं सदी के प्रत्यक्ष वाद द्वारा अनिवार्यतः दबा दिया गया है। चूंकि मार्क्सवादी वास्तविकता की परिभाषा मानव द्वारा निर्मित मानव वास्तविकता के रूप में कर चुके थे। अतः वह ऐसे सामाजिक सिद्धान्त के पक्ष में तर्क देते रहे जो इस वास्तविकता से अपरिवर्तनीय हैं अतएव इसे ऐतिहासिक न मानकर एक ऐसी जीवन्त प्रक्रिया समझें, जिसमें उत्पादन और उत्पादक के रूप में मनुष्य की दोहरी भूमिका होती है।

मार्क्सवाद में द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के दार्शनिक रूप का राजनैतिक और अर्थशास्त्रीय स्वरूप हैं निश्चित ही ज्ञान, दर्शन और कल्पना लोक प्रयुक्त समाजवादी मार्क्सीय समीक्षा का अभिप्राय है। मनुष्य की परिस्थितियाँ और परिवर्तित शिक्षा के उत्पादन होंगे.........परिस्थितियों के स्थानान्तरण और मानव क्रियाओं के संयोग को केवल क्रान्तिकारी व्यवहार के

रूप में संरचना और तर्कन पूर्वक समझना सम्भव है।[1] मार्क्स के अनुसार उत्पादन के कारण समाज दो वर्गों में बटा हुआ है। पूंजीपति वर्ग और श्रमिक वर्ग (सर्वहारा वर्ग)। सर्वहारा वर्ग की क्रान्ति सफल होने पर वर्गहीन समाज स्थापित होता है, जिसमें श्रम का विभाजन नष्ट होने से समाजवादी समाज का जन्म होता है।

समाज में होने वाले परिवर्तनों के कारण केवल संयोग ही माने जाते हैं। यहां आकर हम ऐसी स्थिति में पहुंच जाते हैं जहां एक ओर तो ब्रह्मवाद का मार्ग निकल आता है और दूसरी ओर समाज निर्पेक्ष व्यक्तिवादी मान्यताओं का। द्वन्द्ववाद इन दोनों का विरोधी है। इन दोनों का खण्डन करके आधारित विकास यही सिद्ध करता है तथा भौतिकवाद की औचित्यपूर्ण व्याख्या करता है। भौतिकवादी समाज विज्ञान से स्पष्ट होता है कि समाज के भौतिक जीवन से आध्यात्मिक जीवन नियन्त्रित रहता है। इस बात को मार्क्स ने इस प्रकार कहा है कि – "It is not the consious of man the determine their pering but on the contrary their social being that determine their conseiousness".[2]

इन व्याख्याओं में द्वन्द्वात्मक पद्धति की परिभाषा अन्तःक्रिया अन्योन्य तथा बहुल कार्य कारण सम्बन्धी शब्दावली में है, जिसे मार्क्स की प्रौढ़ रचनाओं में नवधारणा के कट्टरपंथी प्रयोग के मुकाबले खड़ा किया है।[3]

---

[1] Literature and Life, Page 20
[2] Selected Works, Vo. II, Page 333
[3] The Poverty of Philosophy, P. 110

मार्क्स के सामाजिक सिद्धान्त में ज्ञान–विज्ञान और विचारधारा की अवधारणाओं की अधिक स्पष्ट परिभाषा करने की स्थिति सुदृढ बन गयी है। पहले तो समाज के विकास में ज्ञान का समाज में द्वन्द्वात्मक सम्बन्ध रहता है और फिर वही ज्ञान तत्कालीन समाज की समीक्षा का रूपान्तरण कर लेता है। या यों कहें कि ज्ञान उसी सीमा तक वैज्ञानिक या विचारात्मक हो सकता है जिस सीमा तक उसका तारतम्य किसी प्रगतिशील या उभरते हुए वर्ग के व्यावहारिक हितों से बना हो। इसमें संदेह नहीं कि ये स्थापनायें मार्क्स के इस सिद्धान्त पर टिकीं हैं कि चेतना का निर्णय सामाजिक अस्तित्व रखता है।[1] मनुष्य के सत्य अर्थात् अपने चिन्तन की वास्तविकता का प्रश्न सामाजिक सत्ता में निहित है। द्वन्द्वात्मक शब्द का प्रयोग ही गैले ने सर्वप्रथम किया परन्तु कार्लमार्क्स ने नितान्त विरोधी स्वरूप में "डाईलैक्टिड" शब्द का अभिप्राय बतलाया –

My delectic method is not only different from the Hegelion. But it is not direct opposite.[2]

मार्क्स ने मानव मस्तिष्क द्वारा प्रत्याच्छादित भौतिक विश्व में अपने आदर्श रूप में ग्रहण करके इसी को अपने चिन्तन का विषय बनाया है। उसका विचार है कि प्रत्येक समाज के उत्पादन सम्बन्ध एक पूर्ण की रचना करते हैं और केवल इसी अर्थ में उन्हें समझा जा सकता है।

---

[1] Selected Works, P. 413
[2] Dialectics of nature, P. 206-207

कार्लमार्क्स ने कभी भी द्वन्द्वात्मक पद्धति का व्यवस्थित विवेचन स्वयं नहीं लिखा है, यह महत्वपूर्ण कार्य फ्रीडरिक एंगिल्स ने किया। उसने द्वन्द्वात्मक पद्धति की अवधाराणा को व्यवस्थित एवं लोकप्रिय बनाने का और समाज, इतिहास ज्ञान तथा प्रकृति गति के सामान्य नियमों का विज्ञान, प्रकृति, मानव, समाज और विचार के विकास का विज्ञान ही तो है इससे अधिक कुछ नहीं।[1] एंगिल्स के लिए द्वन्द्वात्मक नियमों की एक प्रक्रिया थी जो सभी सामाजिक एवं प्राकृतिक एवं सामाजिक घटनाक्रम में लक्षण रूप में विद्यमान है। द्वन्द्वात्मक पद्धति एक प्रकार का समास था, जिसमें लक्ष्य अलग-अलग नहीं थे बल्कि उनके दुर्बोध उनकी गति और अन्य वस्तुओं में उनके रूपान्तरण के अन्तर्गत समझा गया था। वह विरोधियों में गति की सहज क्रिया है जो अपने को प्रकृति में हर जगह स्थापित करती है। उसका विचार है कि जो अपने को प्रकृति में स्थापित करती है, जो विरोधी तत्वों के सतत् संघर्ष द्वारा और अन्ततः उनके एक दूसरे से या उत्तर रूप में विलय द्वारा ही प्रकृति का जीवन निर्धारित करती है।[2]

एंगिल्स एक सुव्यवस्थित एवं सहज विचारक था उसने समझाया कि-जौ का एक दाना उर्वर भूमि पर गिरे, उसे उष्मा और जल का प्रभाव मिले तो वह नाटकीय रीति से पौधे के रूप में बदल जाता है उन्होंने उसे दाने का निर्षध कहा है। वस्तुतः निर्षधक्रम घटनाक्रम में सर्वथा भिन्न कोई चीज नहीं हो जाती। एंगिल्स ने द्वन्द्वात्मक पद्धति के संदर्भ में अपना यही तर्क देना चाहा कि

[1] Dialectics of nature, P. 207
[2] Dialectics of nature, P. 208

प्रत्येक घटनाक्रम स्वयं अपने निषेध का विकास करता है और उससे तब तक अनिवार्यतः संघर्ष करता है जब तक स्थापना स्थिति प्रायः नहीं हो जाती है। आज साहित्य में विचारधारा के मूल केन्द्र में निषेधात्मक विकास प्रक्रिया अनवरत रूप से प्रवृत हो रही है। साहित्य का द्वन्द्वात्मक विचार पक्ष एंगिल्स के विचार सूत्र से सन्निविष्ट होता है।

भौतिकवादी समाज विज्ञान से स्पष्ट होता है कि समाज के मौलिक जीवन से ही आध्यात्मिक जीवन नियन्त्रित रहता है या आध्यात्मिक जीवन भौतिक जीवन का प्रतिबिम्ब है। उनका मत है–

The conception and ideas of each Historieal period our most simple to the extent from the economics condition life.[1]

किसी भी युग की ऐतिहासिक विचारधारा की व्याख्या उस युग की आर्थिक परिस्थितियों के विश्लेषण द्वारा ही सम्भव है। जब आर्थिक परिस्थितियां बदल जाती हैं तो उनके साथ ही व्यक्तियों के स्वभाव, आदतें, दृष्टिकोण आदि तद्नुसार परिवर्तित हो जाते हैं। द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद आदर्शवादी मान्यताओं का खण्डन करते हुए वहां वह बताता है कि स्वीकृत भौतिक स्थितियों में विचार किस प्रकार मस्तिष्क में उठते हैं वहां यह भी स्पष्ट करता है कि मानव की इन भौतिक परिस्थितियों को बदलने में विचारधारा कहां तक कार्य करती है।

---

[1] Literature and art, P. 9

एंगिल्स ने द्वन्द्वात्मक तथ्यों की विवेचना वैचारिक धरातल पर ही की है। राजनीतिक, धार्मिक, दार्शनिक, साहित्यिक, कलात्मक विकास आर्थिक धरातल पर आधृत रहते हैं लेकिन ये सभी अपनी प्रक्रिया व्यक्त करते रहते हैं और अन्त में आर्थिक धरातल पर वैचारिक दृष्टि से एक हो जाते हैं।

एंगिल्स धन को एक देवी शक्ति मानता है,[1] जो हमें मानव जीवन, समाज, प्रकृति और मनुष्य के साथ बांधे रखती है। आर्थिक आधार का परिवर्तन कला, संस्कृति, राजनीति, विचाराधारा सभी को बदलने में सम्भव है :–

The production of immediate material means of subsistance and consequently the degree of economics development attend by given people from the orientation upon which the state institution, the legal conception the ideas art and even on the relegion of the people concerned have been evolved.[2]

एंगिल्स ने आदर्शवादी तथा द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी मान्यताओं को अलग–अलग स्पष्ट किया है :–

But the work idealism, he understand the belive in virtue universal in literature and art general better wored of which beats before others.[3]

---

[1] Selected works, P. 176
[2] Selected work, P. 167
[3] Selected work, P. 111

कार्लमार्क्स और एंगिल्स ने प्रमुख रूप से क्रान्तिदर्शी समाज दर्शन का उन्नयन किया है। उन्होंने मानव की भाव सृष्टि एवं विचारधारा निहित कलात्मक सृजन का आधार भौतिक मानते हुए समाज की प्रगति से जोड़ा है :–

It is well know that certain periods of highest development with the general development of the society not with materials basis and the Skelton structure of itsorganization.[1]

वस्तुतः मानव दृष्टि में चेतना तथा भावात्मक सत्ता अनिवार्यः योगमूलक है। अतः मानव में सौन्दर्य की भावना भी होती है और वह इस सौन्दर्य के नियमों से प्रेरित होकर काव्य–सृजन की ओर उन्मुख होता है।

मार्क्स और एंगिल्स मानवतावादी विचारक थे। अतः मानवतावादी सिद्धान्तों के परिप्रेक्ष्य में साहित्य और कला को पूर्वाग्रहों से मुक्त माना है। समाजवादी यथार्थवाद मार्क्स तथा एंगिल्स द्वारा प्रतिपादित द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद उस विचारणा की अनुवर्ती है, जिसके अनुसार ही परस्पर शक्तियों के बीच चलने वाली संघर्ष मूलक स्थिति में एक ही विकासवान परिवर्तन आने की निश्चित सम्भावना है। समाजवादी यथार्थवादी लेखक युग जीवन को इसी दृष्टिकोण से युक्त होकर यथार्थता की द्वन्द्वात्मक भूमिकाओं में देखता है और भविष्य में आने वाले जीवन की आशावादी व्याख्या करता है। यह क्रान्तिकारिता कला एवं साहित्य में समसामयिक स्वरूपों को निश्चित करने में सहायक होती है।

---

[1] Literature and art, P. 16

गोर्की ने कला एवं साहित्य में सर्वप्रथम सामाजिक यथार्थवादी मान्यताओं को स्वीकार किया। सामान्य जनवादी सर्वहारा वर्ग की भावना का महत्व साहित्यिक मानों में हो, तभी वह यथार्थ के अधिक निकट है। साहित्य में अनुभूति की तीव्रता, जोश, निष्ठा, ताजगी, सच्चाई की गहराई तक पहुंचने की क्षमता जब होती है तब वह सामाजिक परिस्थितियों का यथार्थ चित्रण करता है। गोर्की ने लिखा है :—

That is truth he would say crewing up his life Ekh. How will that poet could see the truth.[1]

गोर्की ने साहित्यकार को संवेदनशील हृदय तथा करूणामय मानते हुए मानवीय एवं अमानवीय संघर्ष के बीच यथार्थवादी कथा—व्यथा का रचनाकार माना है। साहित्य में निरूपित वर्गगत पात्रों का सृजन अनिवार्य माना गया है। टाइप में वह उस पात्र की वर्गगत विशेषताएं, विश्वास मान्यतायें देने में समर्थ होता है।

गोर्की ने साहित्य का कथ्य जनमानस से सापेक्ष माना है। वह मनुष्य को सर्वोपरि ठहराता हुआ उसे ही सम्पूर्ण विचारों तथा वस्तुओं का निर्माता कहता है। सौन्दर्य, संस्कृति तथा अन्य सभ्यता के उपादान मानव श्रम के परिणाम हैं। उसका विचार है कि आदमी के श्रम से, श्रमिक को कुशल हाथों द्वारा जब सौन्दर्य का सृजन होता है तो सौन्दर्य के सम्बन्ध में उत्पन्न होने वाली

---

[1] Literature and art, P. 16

विचारधारा श्रम प्रक्रिया का अनिवार्य परिणाम है।[1] उसका दृष्टिकोण पूर्णतः मानवतावादी है, इसलिए उसने मानव वृत्तियों के सामाजिक कल्याण का पक्षपात किया है। प्रगति का कारण असन्तोष है। प्रगतिशील एवं प्रतिगामी शक्तियों का चिरन्तन संघर्ष होता है। प्रगतिवादी मात्र वह नहीं है जो कम्युनिष्ट पार्टी का सदस्य होता है। समाजवादी व्यवस्था के हित में कार्य करने वाले सभी प्रगतिशील है।[2]

गोर्की ने प्राकृतवाद का विरोध किया। प्राकृतवादी उसके अनुसार केवल दिखाई देने वाली स्थितियों को सूक्ष्म विश्लेषण करके संतुष्ट हो जाते हैं। उनकी दृष्टि में सामान्य महत्व की स्थितियों का कोई मूल्य नहीं होता और न वे विस्तृत समाजीकरण में विश्वास करते हैं। गोर्की का सामाजिक यथार्थवाद प्राकृतवाद से भिन्न है। उसका विचार है :–

An artinlohieh there is littel beauty or inspiration and a great deal ofpretentious co arseness mequaraling under the old nob courageous quise of redism.[3]

प्राकृतवाद सामाजिक विकृतियों का कारण नहीं खोजते और न उनके दूर करने की समाजशास्त्रीय दृष्टि उनके पास है। प्राकृतवाद के दार्शनिक एवं नैतिक सिद्धान्तों को गोर्की ने सदैव अस्वीकार किया है।

---

[1] Literature and Art, P. 13
[2] Literature and Life-preface-, P. 17
[3] On Literature, P. 169

गोर्की ने जहां एक ओर साहित्य के कथ्य को समाजवादी श्रेयकर बताया है वहां सहित्य शिल्प को भी जनवादी अवधारणा से प्रयुक्त माना है। भाषा के सम्बन्ध में गोर्की का मत स्वरूप, दृष्टिकोंण तथा मार्क्सवादी मान्यताओं पर आधारित है। लोक साहित्य की समीक्षा करते हुए गोर्की ने लेखकों के जीवन दर्शन पर विचार किया है। उस साहित्य में उसने भय और निराशा के भाव स्वाभाविक माने हैं।[1] गोर्की का साहित्य एवं शिल्प सम्बन्धी व्यापक दृष्टिकोंण है। उसने देश में सृजित सम्पूर्ण साहित्य को चाहे वह किसी भी भाषा में रखा गया है, उसी साहित्य की सीमा में ही समाहित किया जा सकता है। गोर्की ने साहित्य में धार्मिक उन्नयन का कारण प्राकृतिक न बताकर सामाजिक ही माना है।

यूरोपीय साहित्य धर्म का विश्लेषण करते हुए गोर्की ने ऐसे तथ्य दिये हैं जो सर्वप्रथम मौलिक थे। कल्पना और ज्ञान की उत्पत्ति वह व्यक्ति की आत्मरक्षा की भावना से उद्भूत मानता है। ज्ञान का स्वरूप निर्धारण करते हुए उसे सोचने की शक्ति कहता है।[2] गोर्की के ऐसे सूत्रात्मक कथन गम्भीर भाव सम्पदा में प्राप्त हुए हैं। नये युग का निर्माण करने वाले रूसी किसानों का उसने यहां सौन्दर्य दिया है। गोर्की द्वारा विकसित समाजवादी यथार्थवादी की रूपरेखा ऐतिहासिक संदर्भ से जुड़ी हुई है।

रूस की क्रान्ति में आस्था रखने वाले वेलिंस्की का नाम दर्शन साहित्य समीक्षा के परिप्रेक्ष्य में बखूबी लिया जाता है। साहित्य और जीवन

---

[1] On Literature, P. 30
[2] On Literature, P. 165

पूर्णतया मानवीय संवेद्य में निहित है। वेलिंस्की का मत है कि कलाकार चिरन्तन मॉडल है। प्रकृति और सृष्टि में सबसे श्रेष्ठ और शुभ्र मॉडल है 'मानष'[1]। यदि कोई कलाकृति केवल चित्रण के लिए जीवन का चित्रण करती है, यदि उसमें वह आत्म शक्तिशाली प्रेरणा नहीं है जो युग में व्याप्त भावना से मिश्रित होती है तब ऐसी कृतियों को कलाकृति मानने में साहस नहीं होता। वेलिंस्की बुर्जुआ के विरोधी तथा सर्वहारा के समर्थक और क्रान्ति के आह्वाहक हैं। उन्होंने कला को आधुनिक परिवेश के प्रगतिमूलक विज्ञान से सामंजस्य स्थापित करने की ओर उन्मुख किया है। प्रत्येक राष्ट्र के दो दर्शन है–सैद्धान्तिक और दूसरा व्यावहारिक। ये दोनों दर्शन न्यूनाधिक रूप में बहुधा एक दूसरे से घनिष्ठ सम्बन्ध रखते हैं। साहित्यकार की भूमिका वेलिंस्की के अनुसार–इन दोनों दर्शनों के कोष में आह्वाह्य है। उन्होंने बताया कि किसान मजदूर या पीड़ित वर्ग की यथार्थवादी दशा का चित्रण करके कलाकार को उनके लिए सहानुभूति सुरक्षित रखनी चाहिए। इतना ही नहीं वह समाज के शोषण का कारण चर्च और धर्म को ठहराता है।[2]

मार्क्सवादी साहित्य चिन्तन में इतिहासकार प्लेखनोव का नाम अग्रणी है उनकी कृति "आर्ट एवं सोशल लाइफ" मनुष्य की कलात्मक चेतना तथा सामाजिक विकास के विवेचन से ओतप्रोत है। कलाकार परिवेश जन्य यथार्थ को कला में व्यक्त करता है। इस बात पर बल देते हुए उसने लिखा

---

[1] Philosophy of literature and criticism, P. 36

[2] On literature, P. 83

है–"मेरे विचार से कला का जन्म तब होता है जब मनुष्य अपने वाह्य जीवन की यथार्थता के प्रभाव में अपने द्वारा अनुभूत भावों तथा विचारों को पुनर्जागृत करते हुए सुनिश्चित सम्भूर्तनों के माध्यम से व्यक्त करता है"।[1] कला मनुष्य के भाव और विचार दोनों को मूर्ख बिम्बों के आधार पर अभिव्यक्ति प्रदान करती है। इसी दृष्टि से उसने मनुष्य जीवन के यथार्थ परिप्रेक्ष्य में कला का जन्म माना है।

प्लेखनोव की विचारणा मार्क्सवाद के द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद और ऐतिहासिक भौतिकवाद से प्रभावित रही है। मनुष्य के मानसिक धरातल को सामाजिक सम्बन्ध के मूल में भौतिक तथा आर्थिक ढांचों में समन्वित किया गया है। उसका विचार है कि –

The art or society people are ditermined by its mentality, Its mentality is a product in the find analysis by the state of its production forces and its relation of production.[2]

प्लेखनोव समाज में निरन्तर गतिशील वर्ग संघर्ष के आधार पर कलाशास्त्र तथा साहित्यालोचन को स्थान दिया। उसने कलाको जीवन का अनुगामी तथा जीवन को सुन्दर बनाने वाला आयाम बताया है। उसका विचार है कि कलाकृति का भावोत्कर्ष जितना ही अधिक समुन्नत होगा, सामाजिक जीवन के लिए वह उतनी ही प्रभावपूर्ण साधन बन सकती है।[3]

---

[1] Art and social life, P. 22
[2] Art and social life, P. 10
[3] Art and social life, P. 11

लेनिन ने सर्वहारा संस्कृति की संरचना में मानवीय इतिहास का विवरण दिया है। बुर्जुआ विचारधारा सर्वव्यापी प्रभुतामय होती है। पूंजीवाद के भीतर मजदूर वर्ग मातहत वर्ग बना रहता है जो अपने चिन्तन संस्कृति तथा क्रिया पर बुर्जुआ प्रभावों का पूर्णतया निषेध करने में असमर्थ रहता है। लेनिन ने कहा है कि बुर्जुआ विचारधारा स्वतः स्फूर्तिरीति से अपने आपको मजदूर वर्ग पर थोप देती है, उसकी सत्ता इस तथ्य से प्रभावित होती है कि वह समाजवादी विचारधारा से जन्म की दृष्टि से कहीं अधिक पुरानी है और अधिक पूर्ण विकसित है। ऐसी स्थिति में यह अनिवार्य हो जाता है कि साहित्य पूंजीवाद में पल्लवित होकर अपने प्रचार–प्रसार के लिए अधिक साधन जुटा लेता है और सर्वहारा वर्ग के कलाकार मातहत बने रह जाते हैं। इस तरह से लेनिन के कला और साहित्य के प्रमुख आदर्श तथा प्रमुख विचार तत्व सामाजिक सोद्देश्यता के व्यंजक माने जाते हैं।

साहित्य सीधे–साधे अर्थ में तभी जुड़ता है जब वह जनवादी भूमिका पर चित्रित हो। साहित्यकार स्वतन्त्रता की दृष्टि से निरपेक्ष होता है। साहित्यकार की सफलता लेनिन की दृष्टि में तभी है जबकि वह मजदूर आन्दोलन एवं समाजवादी संघर्ष के सिद्धान्तों को हृदयंगम् करके उसके क्रान्तिकारी रूप का सम्यक उद्घाटन कर सके।[1]

---

1 On art and literature, P. 47

सामान्य जनवादी सर्वहारा का दृष्टिकोंण ही सांस्कृतिक एवं साहित्यिक मान है। साहित्यकार में अनुभूति की तीव्रता, जोश, ताजगी, सच्चाई तथा निर्भीकता होती है।

लेनिन ने साहित्य की सामयिक शक्ति और उपयोगिता में विश्वास किया है। उसने अपना अभिमत कला, धर्म एवं उद्देश्य के सम्बन्ध में यही दिया है कि सर्वसाधारण के हृदय को जागृत करना और उसका विकास करना कला का धर्म है।[1] लेनिन ने साहित्य की शक्ति को राजनैतिक प्रचार से कई गुना शक्तिशाली माना है।

रैल्फ फॉक्स–सामाजिक जीवन की अभिव्यक्ति पर बल देकर उसने साहित्य में मार्क्सवादी मान अंगीकार किये हैं। काव्यगत सत्य सामाजिक तत्व में निहित रहता है। कला और वास्तविकता एक दूसरे से पृथक नहीं की जा सकती। उसका अभिमत है कि कला एक साधन है जिसके द्वारा मनुष्य वास्तविकता को ग्रहण करता है और उसे अपनाता है, वह अपनी चेतना की भट्ठी पर वास्तविकता की गर्म धातु को तपाता तथा उसे अपने उद्देश्य के अनुरूप सुड़ौल करता है। वह अपने विचार के बल से उसे पीटता है।[2] उसने वास्तविकता से हटकर लिखे जाने वाले साहित्य को हेय बताया है। यहां तक की उसने 'कला के लिए' सिद्धान्त का घोर विरोध किया है :–

---

[1] On art and literature, P. 33

[2] Novel and the people, P. 19

Through out the nineteenth century we find the artist engaged in vain efforts to deny the world which inpasis on him standareds, he can never a tower haisting form its summits the silkan barmer of 'Art for arts sake'.[1]

फॉक्स ने 18वीं शताब्दी के साहित्यकारों में क्रान्तिकारी चेतना को विवेचित किया है। उसमें जनता के दुःख तथा दर्द की व्याप्ति के साथ कलात्मक चिन्तन का समुचित नियोजन है। उन्होंने अपने देश के प्रगतिशील लेखकों को प्रकाश की ओर उन्मुख किया है। फ्रान्सीसी उपन्यासकार फ्लावेयर और थैकरे की प्रशंसा इस दृष्टि से उसने बहुत की है। जनवादी सर्वहारा वर्ग की ध्वनि को पूर्णतया ध्वनन करने के कारण फॉक्स को अंग्रेजी साहित्य की 18वीं शताब्दी समुचित लगी।

हावर्ट फास्ट—अमेरिका के प्रमुख प्रगतिशील साहित्यकार हावर्ट फास्ट ने लिटरेचर एण्ड रिअलटी कृति प्रदान की है, जिसमें यथार्थवाद के परिप्रेक्ष्य में ही काव्यकला के विवेचन को ही दर्शाया गया है। उसका मन्तव्य है कि कलाकृति के निर्माण के लिए यथार्थवादी पद्धति के अतिरिक्त दूसरी कोई पद्धति नहीं हो सकती।[2] कला एक संश्लिष्ट इकाई है। कला की पूर्णता वास्तविक धरातल से है। कला या साहित्य वह संश्लेषण है, जो जन समुदाय की यथार्थ विषयक अवधारणा को अभिव्यक्त करता है। जीवन के विभिन्न तत्व कला साहित्य के उपादान हैं। उसने कला साहित्य की समीक्षा के लिए समीक्षा सेतु

---

[1] Novel and the people, P. 32
[2] Literature and reality. P. 35

की कल्पना की है। वह सेतु माध्यम से ही लेखक की कृति का तादात्मीकरण प्रमाता वर्ग से मानता है।[1] उस सेतु की सफलता ही सही अर्थो में कला की श्रेष्ठता का प्रतिमान है। उसने जनवादी धारणा से कला की निर्मित योजना की सफलता कहा है। उन्होंने कला साहित्य के यथार्थ सूत्रों को जनवादी सर्वहारा वर्ग से प्रतिबद्ध किया है।

जी0 लुकाच–इनकी अवधारणा है कि सर्वहारा वर्ग एक ही समय में इतिहासकर्ता और कर्म दोनों बन जाते हैं। लुकाच की इस व्याख्या में मार्क्सवाद स्वयं क्रान्तिकारी आन्दोलन की बौद्धिक अभिव्यक्ति बन जाता है। ऐतिहासिक भौतिकवाद के सार और उसके पद्धति की सर्वहारा को व्यावहारिक एवं समीक्षात्मक सक्रियता से अलग नहीं किया जा सकता है। दोनों सामाजिक विकास की एक ही प्रक्रिया के पक्ष में हैं। इस प्रकार द्वन्द्वात्मक पद्धति द्वारा प्रदान किया गया वास्तविक विषय ज्ञान समान रूप से सर्वहारा के वर्गगत दृष्टिकोंण से अलग नहीं किया जा सकता है। ज्ञानार्जन की प्रक्रिया में कर्ता और कर्म एक हो जाते हैं। ज्ञान के संज्ञात्मक तथा व्यावहारिक घटक सर्वहारा चिन्तन में एकरूप होकर विलीन हो जाते हैं। सर्वहारा की यह आत्मा चेतना पूंजीवाद के क्रान्तिकारी रूपान्तरणके समरूप है। समाजवाद की दिशा में बढ़ाव और इस बढ़ाव की चेतना एक ही चीज है। ज्ञान कोई उलक्षण वाह्य पदार्थो का प्रतिबिम्बन मात्र नहीं है अपितु वह सर्वहारा के क्रान्तिकारी व्यवहार के साथ अभिन्न रूप से जुड़ा हुआ है।

---

[1] Literature and reality, P. 36

सर्वहारा वर्ग द्वारा उठाई जाने वाली समस्याओं को वेवर मानहीम विचारकों की कृतियों में समाधान मिलता है। वेवर इस बात पर जोर देते हैं कि व्यक्ति परकता अभिप्राय व्यक्ति परकतावादी समाजशास्त्र नहीं है, क्योंकि संस्कृति के आदर्श तत्व (मूल्य, आस्था इत्यादि) का भी विश्लेषण वैसे भी तथ्यपरख पुंग से करना पड़ता है जैसे विशुद्ध आर्थिक कारणों का किया जाता है। सांस्कृतिक विज्ञानों की पद्धति सांस्कृतिक महत्व के संदर्भ में जीवन का विश्लेषण करने को ही है। सांस्कृतिक वास्तविकता का ज्ञान विशिष्ट दृष्टिकोण से होने वाला ज्ञान मात्र है और वर्तमान ठोस वास्तविकता केवल एक छोटा सा अंश हमारे मूल के अनुरूप हितों द्वारा रंगा जाता है। यह व्यक्तिवादी दृष्टिकोण है। जो इस तथ्य द्वारा संशोधित है कि पड़ताल करने वाला अपने युग के मूल निर्धारण विचारों में निश्चित रहता है।[1]

मार्क्सवादी विचारणा या समाजवादी यथार्थवाद ने समीक्षा जगत को एक नया मूल्य, एक नया आयाम प्रदान किया है। इस विचारधारा और साहित्यिक मानों के प्रभाव के कारण हिन्दी साहित्य में पक्षीय और विपक्षीय शक्तियां क्रियाशील हैं। हिन्दी समीक्षा साहित्य में इन्होंने एक उथल–पुथल मचा दी है, जिसके कारण हिन्दी समीक्षा के सिद्धान्तों में एक युगान्तर उपस्थित हो गया है। परिणामतः यही द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद की विचारणा प्रगतिवाद का आधार बन गयी, जिसमें कला के सामाजिक तत्व को अन्य तत्वों की अपेक्षा प्रधानता दी गयी। वस्तुतः सच्ची काव्य कला जन मन की अभिव्यक्ति है।

---

[1] The protesthetic and the spirit of captitilism, P. 48

यूनानियों ने सर्वप्रथम पदार्थ को कठोर और अविभाज्य उपकरण माना था। जबकि पदार्थ एक अवस्था विशेष पर अविभाज्य रह जाता है तब से कण अणु कहलाते हैं। उस समय यह भी कहा जाता था कि अणु–अणु में भिन्नता व्याप्त है कुछ स्निग्ध है कुछ वर्तुलाकार हैं आदि–आदि। ईसा की पांचवी शताब्दी पूर्व यूनानियों ने सर्वप्रथम विश्व की पदार्थवादी प्रणाली के माध्यम से व्याख्या की। उन्होंने बतलाया कि मनुष्य शरीर अपेक्षाकृत कुछ छोटे–छोटे अणुओं द्वारा निर्मित है और जो आत्मा है कुछ स्निग्ध और सूक्ष्म अणुओं के समूहों से बनी हुई है। वह ईश्वरवादी था। अतः उसने बताया कि जो ईश्वर है वह इन सबसे अपेक्षाकृत अति स्निग्ध है और उत्कृष्ट चोटी के अणुओं द्वारा निर्मित है। ईसा की पहली शताब्दी पूर्व लु क्रोटस ने भौतिकवादी दृष्टिकोण पर एक कविता 'Concerning of the nature' शीर्षक से लिखते हुए बतलाया था कि पदार्थ असंख्य अणु परमाणुओं से निर्मित है जो शून्य में अनवरत रूप से घूमते रहते हैं। इसी भांति डीमोक्रीटस तथा अन्य यूनानी दार्शनिकों ने विश्व की ओर उसके निर्माता की आदि–आदि सृष्टि पदार्थ से उद्घोषित की थी। यही नहीं आईजक न्यूटन ने भी अपने सुप्रसिद्ध ग्रंथ 'आप्टिक्स' में इसी पदार्थ को प्राथमिकता दी है जो कि सर्व प्रथम 1704 में प्रकाशित हुआ था।[1]

18वीं एवं 19वीं शती अपने साथ विज्ञान के नवीन चरण लेकर आई। इन शक्तियों में विभिन्न वैज्ञानिकों ने सिद्ध किया कि अणु जड़ नहीं अपुति

[1] Elementory cause in philosophy, P. 32

गतिशील है। यह गत्यात्मक है और वह विद्युत शक्तियों से निर्मित है। प्रोटोन्स योगात्मक शक्ति है और इलैक्ट्रान्स नियोगात्मक शक्ति।

19वीं शती का यह उपर्युक्त विश्लेषण वैज्ञानिक प्रयोगों द्वारा सम्मत है।[1] इन प्रयोगों के आधार पर भौतिकवादी भूत की परिभाषा अथवा पदार्थ की परिभाषा इस तरह करते हैं कि पदार्थ एक वस्तुगत सत्य है जो मन से स्वतन्त्र है जिसकी इयत्ता को सिद्ध करने के लिए मन के संदर्भ की आवश्यकता नहीं।[2]

दर्शन की आध्यात्मिक धारा इस पदार्थ की इयत्ता को स्वीकार नहीं करती। इसके समर्थक पदार्थ के गुणों के साथ इयत्ता को स्वीकार करते हैं और जिन गुणों को हम प्रतीत करते हैं वे हमारे मन में विद्यमान रहते हैं, पदार्थ में नहीं।

किन्तु यह जो विचार जगत है इसकी सृष्टि कहां से हुई। शून्य से किसी विचार जगत की सृष्टि नहीं होती वह तो वस्तु जगत ही है–पदार्थ जगत ही है जो कि विचार जगत का सृजन करता है जो गुणों को उद्भूत करता है। एंगिल्स ने मस्तिष्क को मात्र पदार्थ की उपज माना है।

---

[1] Elementory cause in philosophy, P. 50
[2] Elementory cause in philosophy, P. 84

कार्ल मार्क्स ने तो स्पष्टता मनुष्य की समस्त प्रकार की चिन्तना का मूल स्त्रोत माना है चाहे वह सामाजिक या राजनैतिक हो अथवा सांस्कृतिक, भौतिक। जीवन की उत्पादन विधियों को ही उसने बतलाया है।

मार्क्सवादी बिना पदार्थ की इयत्ता स्वीकार किये विचारों की उद्‌भावना नितान्त असम्भव मानते हैं। वे आत्मा को मस्तिष्क का ही भावात्मक रूप मानते हैं। मस्तिष्क अथवा आत्मा इसी पदार्थ की सृष्टि है। वस्तुतः Brain जो कि मस्तिष्क का, स्नायु की सत्य है समस्त विचारों का उत्स है जो वस्तु सत्य को तथा उस सत्य द्वारा प्राप्त अन्य अनुमानित सत्यों को प्रकट करने में सक्षम है क्योंकि आज का विज्ञान इस बात को स्वीकार नहीं करता कि विचार केवल शून्य द्वारा उद्‌भूत हो सकते हैं।[1]

इस तरह के वैज्ञानिक तरीके से सृष्टि का विश्लेषण ही यथार्थवाद है।[2] एंगिल्स ने अपने ग्रंथ में भी इस भौतिकवाद की परिभाषा करते हुए लिखा है कि वास्तविक जगत प्रकृति और उसके इतिहास को उसी भांति ग्रहण करता है जैसा कि वह प्रत्येक चेतन मनुष्य का ज्ञाती होता है तथा जो कल्पनाओं की पूर्व धारणाओं से मुक्त है।

20वीं शताब्दी में कार्ल मार्क्स का प्रभाव उत्तरोत्तर बढ़ता गया। परिणाम स्वरूप साहित्य एवं कला के क्षेत्र में एक अभूतपूर्व क्रान्तिदर्शिता का

---

[1] Elementory cause in philosophy, P. 32
[2] Elementory cause in philosophy, P. 16

प्रादुर्भाव हुआ। यूनान से लेकर विकसित देशों में द्वन्द्ववाद का भौतिक स्वरूप इतना अधिक विकीर्ण हुआ कि कला में ठोस धरातल पर यथार्थ का स्वसंधान किया गया। मानव मूल्यों की अर्थवत्ता जहां एक ओर अभिजात्य वर्ग से प्रतिबद्ध थी वहीं दूसरी ओर मानव मन के यथार्थ में जीवन परिप्रेक्ष्य जीवन उपक्रम में मार्क्सवाद के प्रभाव सृष्टि का प्रतिफलन सिद्ध हुआ। वस्तुतः कला साहित्य की जागरूकता मानवीय संवेद्य के साथ ही जुड़ी हुई है। मार्क्स के वस्तुगत सौन्दर्य सत्ता का परिपल्लवन करते हुए गोर्की ने 'माँ' उपन्यास में इसी सौन्दर्य बोध के धरातल पर कला के अभिनव आयाम उद्घाटित किये हैं। आज का मानव भाव जगत में कुण्ठाग्रस्त होकर आर्थिक ढांचे को घनात्मक बनाने में जुटा हुआ है, जिसका हीगेल ने वाद–प्रतिवाद के रूप में विवेचन प्रस्तुत किया था। मार्क्स ने भी अपने भौतिकवादी विवेचन के मेरूदण्ड के रूप में इस सिद्धान्त को अपना विवेच्यय बनाया। उसका कहना है कि हर वस्तु का विरोध उसी वस्तु में सीमित रहता है। कालान्तर में 'वाद" में सन्निहित तत्व उसका विरोध करने लगते हैं। यह अवस्था उत्पन्न होती है। यह दोनों पूर्ववर्ती अवस्थाओं से भिन्न होने के साथ ही उनके विशिष्ट स्वरूपों से अलंकृत करती हैं। इसे 'संवाद' कहा जाता है। मार्क्सवादी इस बात को मान्यता प्रदान करते हैं कि 'वाद' से 'संवाद' तक यह परिवर्तन परिमाण से गुणात्मक परिवर्तन की ओर उन्मुख रहता है।

हिन्दी समीक्षा उत्तरोत्तर पाश्चात्य समीक्षा साहित्य के सम्पर्क में आकर साहित्यान्तर्गत सामाजिक तत्वों की अपेक्षा पर जोर देने लगी। समाज के बदलते मूल्य साहित्य स्वरूप को बदलने में सहायक बने। प्रगतिवादियों ने

आधुनिक युग चेतना के प्रकाश में नवीन साहित्य का सृजन और प्राचीन साहित्य का मूल्यांकन किया। वस्तुतः जब किसी नवीन कलाकृति की अनुभव गोचर महत्ता प्रचलित सिद्धान्तों द्वारा व्याख्यायित नहीं होती तब उसकी व्याख्या के लिए नये सिद्धान्त की आवश्यकता पड़ती है।

आज समग्र विश्व में प्रगतिवाद, मार्क्सवाद के सिद्धान्त के पर्याय में लागू होकर समाजवादी धरातल पर साहित्यिक सृष्टि को अभिनव दिशा प्रदान कर रहा है जिसमें समाज, साहित्य और संस्कृति की व्याख्या द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद को आधारशिला मानकर की जाती है जिसे दर्शन के क्षेत्र में द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद कहते हैं।

ऐतिहासिक विकास का अत्यन्त महत्वपूर्ण अंश मार्क्सवादी समालोचकों से सम्बन्धित है। आज का मार्क्सवादी समीक्षक सैद्धान्तिक और व्यक्तिगत स्तर पर परस्पर गहरे मतभेदों से कुहसत समाजशास्त्रीय यांत्रिकता आदि अनेक ऐसी सम्भावनायें एक वर्ग ने दूसरे वर्ग की समीक्षा के प्रति प्रकट की है, जिनके कारण मार्क्सवादी समीक्षा का अधिकांश खंडन–मंडन हो गया है। इस वातावरण का प्रभाव केवल मार्क्सवादी समीक्षा क्षेत्र तक सीमित नहीं वरन् समग्र विश्व में व्याप्त है। आधुनिकता बोध का चरम विकास एक ओर अति व्यक्तिगत होकर सूक्ष्मगत होता जा रहा है तो दूसरी ओर आधुनिकता बोध का समग्र विकास सामूहिकवाद की निष्ठा से ओत–प्रोत है। मार्क्सवादी विचारक परम्परा एवं संस्कृति के साथ साहित्यिक मूल्यांकन करने के लिए कटिबद्ध है।

जीवन और साहित्य को एक दूसरे के पास ले जाने का श्रेय मार्क्स को है। मार्क्स एक शाश्वत विचारक के रूप में स्वीकृत हैं। आज का युग, आन्दोलित समाज मार्क्सवादीय चेतना से अभिप्रेरित है जिसको मानवतावाद, व्यक्तिवाद, लोकवाद का नवीन दृष्टिकोण, नवीन अवधारणाओं के साथ मुखरित किया जाता है।

(ख) भारतीय समाजशास्त्रीय समीक्षा :

भारत में प्राचीनकाल से ही काव्य–सृजन, आस्वादन, अनुभूति आदि पर चिन्तन करते हुए विचारकों ने रस, अलंकार, वक्रोक्ति, ध्वनि, रीति तथा औचित्य सिद्धान्त की विवेचना काव्य सौन्दर्य संवेदन के लिए ही की है। काव्य की विविध व्याख्याओं के साथ रस सिद्धान्त का व्यापक, सूक्ष्म, मनोवैज्ञानिक भाव प्रवण सार पर सौन्दर्यबोधीय विवेचन हुआ है। उसमें समाज शास्त्रीय सौन्दर्य बोध का दर्शन होता है। भारतीय आचार्यो ने काव्यशास्त्रीय दर्शन में रसवाद की भूमिका के अन्तर्गत समाजवादी संदर्भ विवेचित किये हैं। साहित्य, सामाजिक परिप्रेक्ष्य में सदैव से देखा गया है। प्रमाता वर्ग समाज का ही पर्याय हैं रस का साम्प्रदायिक विश्लेषण प्रमाता वर्ग के सम्बन्ध को उद्भावित करने के लिए जनश्रुति के आधार पर नाट्यशास्त्र को लेकर प्रमाता की अभिरूचि को ध्यान में रखकर विभिन्न अर्थी बन गया है। कहा गया है–

"रस इतिकः इत्यादिना। मधुरादौ पारदे विषये सारे। जल संस्कारे अभिनिवेश क्वाथे देह धातो नियति वायं प्रसिद्ध न त्वन्यत्रा तने रस इति पदस्य श्रृंगारादौ प्रववर्ति तस्य कोडर्थः।[1]

आचार्य भरत ने अपने नाट्यशास्त्र में अभिनव, नृत्य, संगीत और रस पर प्रमुख रूप से विचार किया। सामाजिक दृष्टि से नाना प्रकार के भावों

---

[1] अभिनव भारतीय।

एवं भंगिमाओं के द्वारा व्यक्त किये गये। इन भावों की उत्पत्ति एक दूसरे की पूरक होतीं है। भरत के रस सूत्र पर विभिन्न भारतीय विद्वानों के मत को समाजशास्त्रीय दृष्टि से ही समझा जा सकता है। अनुभूतियों एवं मस्तिष्क के प्रतीकों के साथ समाजशास्त्रीय भावना भी जुड़ी हैं रस निष्पत्ति के मूल में सामाजिक भूमिका ही निहित है।

रस सिद्धान्त को मनोवैज्ञानिक पृष्ठभूमि प्रदान करते हुए भट्ट, लोल्लट, शंकुक, भट्ट नायक और अभिनव गुप्त ने जिस परिकल्पना का सहारा लिया है उसमें रस एवं रस स्थिति के विभेद प्रस्तुत नहीं किये जा सकते हैं। शंकुक ने रंगमच पर घटित होने वाली प्रक्रियाओं का एक धुंधला दृश्य पाठक के मस्तिष्क में पहले से ही विद्यमान बताया है। काव्यप्रकाशकार ने शंकुक के मत को सामाजिक दृष्टि से निम्न प्रकार प्रस्तुत किया है—काव्यों के अनुशीलन से तथा शिक्षा के अभ्यास से सिद्ध किये हुए अपने अनुभाव इत्यादि कार्य से नट के द्वारा ही प्रकाशित किये जाने वाले कृत्रिम होने पर भी कृत्रिम न समझे जाने वाले, विभाव आदि शब्द से व्यवहृत होने वाले कारण कार्य एवं सहकार्यो के साथ संयोग अर्थात् गम्य गमक भाव रूप सम्बन्ध से अनुभवमान होने पर भी वस्तु के सौन्दर्य के कारण तथा आस्वाद का विषय होने का अन्य अनुभवमान अर्थो से विलक्षण स्थाई रूप से सम्माननीय मानरति, आदि भाव वहां न रहते हुए भी सामाजिक के संस्कारों से आस्वाद किया जाता हुआ रस कहलाता है।[1]

---

[1] काव्य प्रकाश आचार्य विश्वेश्वर, पृ0 103

सामाजिक अनुमान के कृत्रिम रूप से नट अपनी क्रियायें सम्पादित करता है तथा सामाजिक अनुमान के आधार पर नट में यथार्थ रूप से विद्यमान न होने पर भी इसका अनुमान कर लेता है, अपनी वासना के संदर्भ में उसका आस्वादन करता है। यह सत्य सर्वप्रथम शंकुक के विवेचन में दृष्टिगोचर होता है। डॉ0 रघुवंश ने रस निष्पत्ति पर प्रकाश डालते हुए लिखा है–"साधारण जीवन में भावनात्मक प्रक्रिया की उद्भूत घटना को हम रस स्थिति कहते हैं और काव्यानुभूति में इस क्रिया के स्वरूप को रस निष्पत्ति कहते हैं"।[1] भट्ट नायक के अनुसार शब्द शक्ति का प्रथम सोपान भाव तत्व से जुड़ा हुआ है और भाव तत्व व्यापार उस अवबोध को साधारणीकृत करके सामाजिक को प्रदान करने वाला दूसरा सोपान है। इसके द्वारा सामाजिक स्वस्थायी भाव आदि का रस रूप में भोग करता है जो अपनी विलक्षणता में परम ब्रह्मास्वाद के समान लौकिक अनुभव एवं स्मृति ज्ञान से नितान्त भिन्न है।[2]

जीवन और जगत की व्यंजना विभिन्न दार्शनिक पहलुओं में की गयी है। जब किसी भी ज्ञान का प्रयोग समाजवादी हित में सम्बर्धित किया जाता है तब कलात्मक सृजन की तकनीकी सामग्री भी सामाजिक हो जाया करती है। प्राचीन भारत के दार्शनिक पृष्ठभूमि में चार्वाक सिद्धान्त अत्यधिक सामाजिक होकर जगत सृष्टि पर अवतरित हुआ। जीवन का यथार्थ समन्वय पूर्ण एवं प्रभावकारी तरीके से चार्वाक सिद्धान्त में ही विचारणीय माना गया है। उसके

---

[1] साहित्य का नया परिप्रेक्ष्य, पृ0 82
[2] हिन्दी साहित्य कोष, पृ0 623

जितने भी वाद और निकाय किये गये उन सबमें सामाजिक प्रत्यक्ष सुखानुभूति अन्तर्निहित रही। नास्तिक अवधारणाओं में इस सिद्धान्त का अपना विशिष्ट योग है। जीवन के विस्तार में काल का ग्रहण मनुष्य मौलिक रूप में करता है अन्य जीवधारी जहां–जहां वर्तमान के तत्कालीन अंश का ग्रहण करते हुए उसे काल का सीमान्त मान लेते हैं वहां मनुष्य में यह क्षमता है कि काल की सतत वह मानधारा में अवगाहन करता हुआ उसे वस्तु परक दृष्टि से देख सके। चार्वाक सिद्धान्त वस्तु परक तृप्ति का सिद्धान्त है। भोगे हुए क्षणों से प्रतिबद्ध है। किन्तु अतीत एवं भविष्य के खिंचाव से अनभिज्ञ नहीं है।[1]

मनुष्य की एक निजी व्यवस्था है कि वह एक ही साथ कालजीवी और कालजयी दोनों होता है। वह देश काल की सीमा में स्वेच्छा से आबद्ध भी है साथ ही अतीत और भविष्य की ओर अपनी चेतनाओं की भुजाओं का विस्तार करके उन्हें वर्तमान में आत्मसात् करते हुए अपनी सृजनात्मकता में कालातीत हो जाना चाहता है। सामान्य अर्थ में ज्ञान का क्रमबद्ध और तार्किक विशेषीकरण ही चार्वाक सिद्धान्त है, जिसमें जीवन और जगत को समझने की प्रक्रिया में तथ्यों का अम्बार लगता है और मानवीय संवेदना की गहराई उत्पन्न होती है। यह वैचारिक दृष्टि बौद्धकीकरण की पर्याय है, जिसमें सामाजिकता की प्रतिष्ठा और परिवेशजन्य पर्यावरण की विश्वजनीनता है। यथावत के प्रति आकर्षण इस सिद्धान्त में नहीं है। परम्परा की दारूण यातना मनुष्य को प्रतिबद्ध होने से बचाती है। जिसे नयेपन की चकाचौंक में हमारा जीवन और साहित्य चिन्तन का

---

[1] परम्परा और आधुनिकता, पृ015

अवसर नहीं देता उसे भारतीय दर्शनवाद में खूब समझा गया है। भारतीय जनमानस की सम्पूर्ण परम्परागत चेतना का विश्लेषण करें तो स्पष्ट होता है कि जीवन के केन्द्र में ईश्वर का होना उसका एक वाह्यरूप है, जबकि सिद्धान्त में ईश्वर के प्रति अनास्था और भौतिकवादी विस्तीर्णता के आयामों को समाकलित किया गया है। सम्पूर्ण दृष्टि के भौतिक विकास की कार्य कारणता का सूत्रधार नियति ही माना गया है। वस्तुतः यह दृष्टिकोण परम्परा की समग्रता को बहुत अंशों तक संकुचित कर देता है। यहां यह विचारणीय है कि प्रस्तुत वाद में यथार्थ प्रेरित जीवन विधान स्वीकृत किया गया है।

भौतिक परिप्रेक्ष्य में पुरातन युगीन मानसिकता संदेह और प्रश्न को लेकर नास्तिकता तथा अशिष्टता के रूप में स्वीकार करती है। तभी नास्तिकतावादी दर्शन चार्वाक का उदय हुआ। डॉ0 राधाकृष्णन ने लिखा है– "संदेह और जिज्ञासा व्यक्ति के विकास में स्थिर विचारों की अपेक्षा अधिक सहायक होते हैं।"[1] व्यक्ति प्रश्नों के माध्यम से स्वयं को, परम्परा को, आधुनिकता को निरन्तर मानता रहता है बौद्धिकता अपने मूल में मानव विवेक स्वीकार करके जीवन और जगत के यथार्थ परक प्रश्नों पर संवेदनशील दृष्टिकोण से विचार करती है और यह संवेदशीलता न तो रोमांटिक भावबोध की भांति सरल होती है और न ही यान्त्रिक सोच की तरह जड़। वह यथार्थ का साक्षात्कार अपनी सम्पूर्ण

---

[1] आधुनिक युग में धर्म, पृ0 15

मानवीय क्षमताओं के साथ करना चाहती है। बौद्धिकता यथार्थ को तटस्थ रूप में ग्रहण करती है किन्तु वह उसकी कार्य पद्धति का प्राथमिक पक्ष है। यथार्थ में इस तटस्थ ग्रहण के बाद उससे मानवीय तादात्मीकरण ही उसका मूलभूत लक्ष्य है। चार्वाक दर्शन जीवन और साहित्य को अधिक प्रगतिमूलक और भोगमूलक मानता हुआ लोगों को तीन वर्गो में आबद्ध करता है7 (1) बौद्धिक (2) बुद्धिजीवी (3) सामान्य।[1] चार्वाक सिद्धान्त युग सापेक्ष है। उसकी समस्त विचारणायें, विधायें और शिल्पगत विशेषतायें युग और परिस्थितियों की जीवन्त प्रेरणाओं से अभिप्रेरित होती हैं। विचारक की विकसित अनुभूति प्रवणता और संवेदन क्षमता युग सूक्ष्मातिसूक्ष्म चेतना को भी अनुभूति करने की सामर्थ्य रखती है।

संस्कृत काव्य प्रपयन में सामाजवादी भूमिका का निर्वाह परम्परा से ही किया गया है। आनन्द के चरम घटक का समाजवादी मूल्य संस्कृत साहित्य से निरूपित होता है :–

" चमत्कारस्तु विदुषामानन्द परिवाहकृत।
गुणं रीति रसं वृति पाक शैया भक्ते कृतिम्।
सप्तैतान्नि चमत्कार कारणं व्रषते बुधाः।[2]"

इस बात से स्वतः सिद्ध हो जाता है कि कलात्मक सृजन स्वयं आनन्दमय एवं शान्तिदायक प्रक्रिया है। अतएव इसके सामाजिक दर्शकों को इसे देखने अथवा इसका आस्वादन करने के काल में आनन्द एवं शान्ति का मिलना

---

[1] क, ख, ग जनवरी 1964 (डॉ0 समस्वरूप चतुर्वेदी)
[2] भारतीय सहित्यशास्त्र भाग–2, पृ0 358

आवश्यक है। ऐसी भावपूर्ण स्थिति में जनकवि तुलसी दास के रामचरित मानस के विचार समाजबोधीय वक्तव्य के लिए प्रसिद्ध है :

"सियाराम मय सब जग जानी, करहु प्रणाम जोरि जुग पानी।"

(रामचरित मानस)

उत्तर भारत में हम सड़को, गलियों पर अपढ़, अशिक्षित लोगों से तुलसी के पद निरन्तर सुनते हैं। तुलसीदास समाजबोधीय बहुमुखी समस्याओं के समाधान के प्रतिपादक रहे हैं। सन्त साहित्य में हम तीव्र सामाजिक चेतना पाते हैं। जीवन की बहुमुखी समस्याओं के प्रति सचेत प्रतिक्रिया निरन्तर इस साहित्य में मिलती है। सामाजिक परिस्थितियों ने संत कवियों के जीवन दर्शन को प्रभावित किया और उसे दिशा दी। गोस्वामी तुलसीदास स्वयं अपने सम्बन्ध में लिखते हैं :

लोग कहै पोच सो न सोच संकोच मेरे।
व्याहिन वरैखी, जाति–पांति न चहेत हों।।[1]

तुलसी साहित्य लोक मंगल की भावना से ओत–प्रोत है उनके अनुरूप ही महात्मा कबीरदास ने सामूहिक जीवन से अभिमुख होकर समाजबोधीय वक्तव्य दिया :

---

[1] तुलसी गंथावली, पृ0 358

जो देखा सो दुखिया देखा, तन धरी सुखी न देखा।
उदै–अस्त की बात कहत हों, ताकर करौ बिबेखा।।

बाठै–बाठै सब कोई दुखिया, क्या गिरही क्या वैरागी।
सुक्राचार्य दुख ही के कारण, गरभै माया त्यागी।।

जोगी दुख्यिा, जंगम दुखिया, तापस को दुख दूना।
आसा–तृष्णा सब घट व्यापै, कोई महल नहिं सूना।।[1]

जीवन की व्यथा से आकुल होकर सन्त कवियों ने व्यक्तिगत सुख–दुःख की भावना त्याग दी थी और भक्ति मार्ग की काव्यात्मक अभिव्यक्ति इसी प्रकार की। जीवन का विविध रूपी व्यापक चित्रण हम संत कवियों के साहित्य में पाते हैं। उनकी दृष्टि जीवन के व्यापारों पर और उनकी समग्रता में पड़ती है। अपने साहित्य में सम्पूर्ण मानव जीवन का सार संत कवियों ने संजोकर रखने का प्रयास किया है। गोस्वामी तुलसीदास के समान ही सूरदास ने कृष्ण कथा को मूलतः मानव जीवन की कथा का रूप दिया है :

जो सुख होत गौंपालहि गायें,
सो नहि होत जप तप के कीन्हे,
कोटिक तीरथ नहाये।[2]

सूर के काव्य का विषय मानव ही है। मनुष्य के शैशव और यौवन अवस्थाओं का इन लीलाओं के माध्यम से विस्तृत और सारगर्भित वर्णन हुआ है।

---

[1] कबीर ग्रंथावली, पृ0 289
[2] सूरसागर–पद संख्या 57/58

प्राचीन मंदिरों की नक्कासी में अथवा जयदेव विद्यापति और सूर के श्रृंगार स्थलों का रहस्य समाजवादी ही है। श्रृंगार के प्रति हमारे पूर्वजों की दृष्टि में कोई वर्जनायें न थीं, उनकी दृष्टि स्वस्थ मानसल दृष्टि थी। वह मनुष्य के स्वामित्व और सामाजिक अवस्थाओं का स्वाभाविक वर्णन करती हैं। तुलसी, सूर और कबीर का काव्य हमे जीवन की विषमताओं से बचने का एक समाजबोधीय रूप ही प्रदान करता है। उन्होंने ब्रह्म को भी स्वामिभक्त मानवीय रूप से देखा है। यह हमें प्रेम का संदेश देते हैं यही मानव जीवनचर्या है। मनुष्य के हृदय की पीर इन गीतों में व्यक्त हुई है। उनकी प्रेरणा और मार्मिकता पाठक के हृदय पर चोट करने का एक सहज उपक्रम है।

सामाजिक यथार्थ की अभिव्यक्ति साहित्य और काव्य में सदा प्रत्यक्ष एवं परोक्ष रूप में प्रकट होती रही है। सूक्ष्म मानवीय अनुभूतियों और कोमल कल्पनाओं की अभिव्यक्ति संत काव्य में खूब हुई है। इन अनुभूतियों और कोमल कल्पनाओं का सम्बन्ध सामाजिक आधार से अवश्य होता है। कलात्मक अभिव्यक्ति सूक्ष्म कोमल और संश्लिष्ट होती है। आर्थिक आधार से सामाजिक आधार तक उसका सम्बन्ध नहीं होता है जो फूल का भूमि से। साहित्य नयेरूप और युग परिस्थितियों में अपने को ढालता रहता है।

एक लम्बे अर्से के बाद सामाजिक चेतना का उदय हिन्दी के आधुनिक काव्य में हुआ। भारतेन्दु ने 'भारत दुर्दशा' नाटक में अपनी सामाजिक और आत्मिक हीनता की स्थिति का चित्रण भली भांति किया :

अंग्रेज राजसुख साज सजे सब भारी।
धन विदेश चलि जात इहै अति ख्वारी।।

ताहू पै महंगी काल–रोग विस्तारी।
दिन–दिन दूने दुखःईस देत हा भारी।।

सबके ऊपर टिक्कस की आफत आई।
हा–हा भारत दुर्दशा न देखी जाई।।

भारतीय जनता अंग्रेजी साम्राज्यवाद का एक अंग होने के कारण यूरोप की हवा में बहने लगी थी। समाजबोधीय साहित्य एवं कला के मानदण्ड उसे प्राप्त हुये जिन्हें वह भारतीय साहित्य तथा कलात्मक उपलब्धियों में प्रयोग करने लगा। समाज का हित करने वाले साम्यवाद का सीधा तो नहीं किन्तु परोक्ष रूप से आधुनिक कवियों पर असर पड़ा प्रियप्रवासकार ने मर्माहत भारतीय संस्कृति के पराभव को उकेरा है :

समय की डूह की ओर सिसकते मेरे गीत विकल धाये।
आज खोजते उन्हें बुलाने, वर्तमान के पल आये।।[1]

इस युग के सभी सामाजिक आन्दोलन पुरातन की ओर उन्मुख थे और बीती स्मृतियों को बटोर रहे थे। इस विचारधारा का प्रवाह हिन्दी काव्य में 'भारत–भारती'; 'प्रियप्रवास'; 'कामायनी' और पन्त का 'परिवर्तन' है किन्तु 'पल्लव'

---

[1] प्रिय प्रवास, 5/21

और 'कामायनी' में काव्यानुभूति बहुत गहरी हो चुकी है और एक नई जीवन शक्ति हिन्दी काव्य में आ गयी है। भारतीय मध्यवर्ग की संस्कृति अब आत्म चेतना से लुप्त हो रही है और कल्पना विलास में जीवनचर्या कठोर यथार्थ को जहां भूलने का प्रयत्न करती है वहां इसकी ओर जीवन का थिरकता रूप प्रकृति के माध्यम से प्रतिबिम्बित होने लगता है :–

"कोऊ कहै रे मधुप, कहा तू रस को जानै।
बहुत कुसुम पै बैठि सबैं आपन सम मानै।।[1]

परिस्थितियों में रम जाने की क्षमता प्रियप्रवासकार को है। सामाजिक बोधीयता का मधुर अन्दाज इन कवियों को है। द्विवेदी युग के अन्य कवि –एक 'भारतीय आत्मा' (पं0 माखन लाल चतुर्वेदी), बालकृष्ण शर्मा, 'नवीन'; सुभद्रा कुमारी चौहान आदि अपने काव्य के माध्यम से सामाजिक बोधीयता को उर्वरा प्रदान कर रहे थे। इनकी वाणी में ओज और सच्चाई कूट–कूट कर भरी हुई थी। कवि का रचना का रूप द्रष्टव्य है :

मुझे तोड़ लेना माली, उस पथ में तुम देना फेंक।
मातृभूमि पर शीश चढ़ाने, जिस पथ जावें वीर अनेक।।[2]

राष्ट्रीय और सामाजिक भावनाओं को उद्‌भावित करने वाली कवितायें इस युग में विशेष रूप में प्रणीत हुई। 'नवीन' की कविता में यदि एक ओर राष्ट्रवाद है तो दूसरी ओर प्रौढ़ और परिष्कृत समाजवाद। 'नवीन' को

[1] प्रिय प्रवास, 5/32
[2] ग्रंथावली, पृ0 98

मजदूर आन्दोलन से यह चेतना मिली है कि इस दुनिया में दो दुनियां हैं। नवीन का कथन है :

सुन लो गर तुम में हिम्मत है, नंगो–भूखों का यह गाना।
अब तक के रोने वाला का, यह विकट तराना मस्ताना।।

जिनको तुम कीड़ा समझे थे, वे तो यारो निकले मानव।
लोरी गाया करते थे अब तक, वे आज कर उठे हैं तांडव।।[1]

नवीन स्वतन्त्र भारत को केवल सामन्ती अतीत के पथ पर लौटता नहीं देखते, वह शोषकों और पीड़ितों की मुक्ति का प्रयास भी करते हैं। हमारी राष्ट्रीयता कविता को इस प्रकार एक नई सामाजिक चेतना और शक्ति मिलती है। समाजशास्त्रीय कविता का कलात्मक देन उसमें भले ही साकार हो उठे परन्तु विचारात्मक श्रेय उसमें कूट–कूट कर भरा हुआ है। इस वर्ग के कवि राष्ट्रवाद के स्वर को आज प्रगति का स्वर कहकर ऊपर उठा रहे हैं।

समाजशास्त्रीय दृष्टिकोंण से काव्य की टीकाओं में सिद्धान्तों का निर्माण तथा चिन्तन एवं परिणाम बराबर हिन्दी साहित्य में होता रहा है। भारतेन्दु की समीक्षा पद्धति में भौतिकवादी विचारधारा, समाजधर्म के अनुरूप अपनायी गयी है। वेदान्त के सम्बन्ध में भारतेन्दु ने लिखा है –

---

[1] नंगो–भूखों का गाना–माधुरी, सन् 1984

"वेदान्त ने बड़ा ही उपकार किया सब हिन्दु ब्रह्म ही रखे। ज्ञानी बनकर ईश्वर से विमुख हुए, रूष्ट हुए और इसी से स्नेह शून्य हो गये जब स्नेह ही नहीं तो देशोद्धार का प्रयत्न कहाँ–बस जय शंकर की।"[1]

आज की समाज व्यवस्था में शिल्पवाद ने कवियों को भी आत्मवादी समीक्षक बना दिया है। मिश्र बन्धु रीतिकालीन कविताओं की टीकाओं में विरत होकर तत्कालीन आर्य साम्राज्य की स्थापना दर्द स्वीकार करते हुए लिखते है कि–"ऐसे दर्प पूर्ण प्रतिभाशाली सुकाल में साहित्य की विशद उन्नति परम स्वाभाविक थी और वह हुई भी..........भूषण और देव वाले काल में उत्साह की मूर्ति खड़ी हो गयी और वीर रस ने हिन्दी साहित्य को एक बार कुछ समय के लिए समारोही करके छना मुकुट से सुशोभित कर दिया।"[2]

इतिहास विवेचन तथा काव्यालोचन में टीका परक स्थिति के अनुसार शोषित वर्ग के साथ संवेदना दिखाई गयी। वर्ग धारित समाज का साहित्य वर्गवादी होता है। वह एक साथ शोषक अवशोषित दोनों वर्गो का पक्ष नहीं ले सकता। अतः मार्क्सवादी उसी साहित्य को प्रगतिशील मानते हैं जो वर्ग संघर्ष को मिटाने तथा समाज को शान्ति की ओर अग्रसर करे। द्विवेदी युग की समीक्षा में वर्ग संघर्ष को मिटाने तथा समाज को शान्ति की ओर अग्रसर करने की चेतना है। द्विवेदी युग की समीक्षा में वर्ग संघर्ष की परोक्ष स्वीकृति इन पंक्तियों में देखी जा सकती है –"प्राचीन युग में व्यक्ति और समाज का संघर्षण

1 भारतेन्दु ग्रंथावली प्रथम भाग, पृ0 475
2 मिश्र बन्धु विनोद, द्वितीय भाग, पृ0 381

था और वही मध्य युग में विद्यमान रहा। इसी प्रकार वर्तमान युग में राष्ट्रीयता के प्रधान होने पर व्यक्ति और समाज का संघर्ष लुप्त नही हुआ। अब सभी देशों में व्यक्ति, समाज और राष्ट्र में संघर्षण हो रहा है।[1]

आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी सन् 1920 तक आते–आते यह स्पष्ट रूप से समझने लगे थे कि आगे प्रगति का अर्थ होगा सामान्य की ओर दृष्टि। उन्होंने तत्कालीन कवियों को भविष्य का दर्शन कराते हुए बताया था कि विशिष्ट की अपेक्षा सामान्य पर ध्यान केन्द्रित करना समुचित होगा। श्रीमानों की अपेक्षा मिल से निकले हुए मैले मजदूरों को ही काव्य का नायक बनाना उन्हें श्रेयकर प्रतीत होता था और वह उसी में सौन्दर्य का दर्शन करने लगे थे। उनका विचार है कि "जो साधारण है वही रहस्यमय है वही अनन्त सौन्दर्य से युक्त है।[2] व्यक्तिवादी सीमाओं से उठकर सामाजिक मान्यताओं को स्वीकार करने की समीक्षा वृति मान्यता पाने लगी थी। हिन्दी का समीक्षक काव्य टीका में मार्क्सवादी समीक्षा से सीधा सम्पर्क तो नहीं कर पाया था लेकिन समीक्षा की मौलिक चेतना से वह अनुपालित हो रहा था जिसमें प्रगतिशील तत्वों का आविर्भाव युग की मांग के अनुरूप पल्लवित होने लगा था।

मार्क्सवाद में छायावादी कवि दाखिल नहीं हो पाये थे। छायावादी काव्य समीक्षा में परस्पर विरोधी भाव मिलते हैं। वैसे तो प्रत्येक साहित्यिक वृत्ति

---

[1] विश्व साहित्य इतिहास, पृ0 19
[2] हिन्दी कविता का भविष्य–सम्पादकीय

में उसके विरोधी तत्व रहते हैं जो उसे बदलकर स्वयं नष्ट हो जाते हैं और नये रूप को जन्म देते हैं।

सुमित्रानन्दन पंत ने काव्य टीका सम्पादन करते हुए लिखा है कि इस युग में वास्तविकता ने जैसा उग्र आकार ग्रहण लिया है उससे प्राचीन विश्वासों में प्रतिष्ठित भाव और हमारे कल्पना के फूल खिलवाये हैं। श्रद्धा में पलने वाली संस्कृति का वातावरण आन्दोलित हो उठा है और काव्य की स्पप्नजड़ित आत्मा जीवन की कठोर आवश्यकता के नग्न रूप से सहम गयी है। अतएव इस युग की कविता स्वप्नों में नहीं पल सकती है, उसी की जड़ों को अपनी पोषण सामग्री धारण करने के लिए कठोर धरती का आश्रय लेना पड़ रहा है।[1] इस युग की समीक्षा की भूमि यथार्थवादी है। सत्य के खोज की उड़ती हुई अस्पष्ट अभीप्सा युग परिवेश सामाजिक वातावरण ओर वैयक्तिक एवं सामाजिक परिस्थितियों से प्रभावित एवं घनीभूत होकर वास्तविक की भूमि पर विचरण करने लगी। साहित्य, सामाजिक यथार्थवादी विचारणी का प्रतिरूप है। जयशंकर प्रसाद ने भावनाओं की प्रबलता भी समंजन करते हुए साहित्य को एक नया रूप दिया है। उनका मत है—साहित्य समाज की वास्तविक स्थिति क्या है इसको दिखाते हुए भी अपने आदर्शवाद का सामंजस्य स्थिर करता है। दुःखी दग्ध जगत और आनन्दपूर्ण स्वर्ग का एकीकरण साहित्य है।[2]

---

1 रूपाभ वर्ष,–1–सं0 1

2 काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध, पृ0 142

साहित्य के भीतर विविध परिधान पहिने पात्र वास्तविकता और कल्पना से जड़े रहते हैं। यथार्थ के प्रति उनका आग्रह रहता है परन्तु भावना के आदर्श से उन्हें आवृत्त कर दिया जाता है। उनमें व्यक्तिगत और समाजगत दोनों प्रकार की विशेषता होती है।

महादेवी वर्मा ने लिखा है कि साहित्य का उद्देश्य समाज के अनुशासन से बाहर स्वच्छंद मानव स्वभाव में उसकी मुक्ति को अक्षुण्ण रखते हुए अनुकूलता उत्पन्न करना है।[1] छायावादी काव्य टीकाओं में मानवतावादी दृष्टिकोण रहा है। समीक्षा में उन्हीं तत्वों पर विशेष जोर दिया गया है जो हमें बृहद मानव बनाने के पथ पर ले जाते हैं। समस्त मनुष्य जाति इस युग की कविता का कंठहार है। हिन्दी को सम्पूर्ण अभिव्यक्ति देना एक नवीन मनुष्यत्व को अभिव्यक्ति देना है। हम समस्त लोक चेतना का निर्माण इन्हीं भावों के आधार पर करने में सक्षम हैं।

हिन्दी समीक्षा में इति वृत्तात्मक युग का विकसित रूप प्रशस्तिपरक तथा समाजपरक रहा है। युग अपनी विशिष्ट विचारधारा भावना स्तर तथा दृष्टिकोण लेकर आता है। उस युग को जो साहित्य प्रणीत होता है, उसमें जन सामान्य के लिए प्रशस्त मार्ग रागमय हो उठते हैं। उस कसौटी पर आधुनिक कविता तथा उसकी समीक्षा दोनों ही प्रगतिशील हैं। पन्त जी लिखते हैं—इस युग की समीक्षा प्रगतिवाद के उपयोगितावादी, जनकल्याणकारी एवं

---

[1] क्षणंदा, पृ0 122

ऐतिहासिक महत्व को स्वीकार करके चली है।[1] लोककल्याण तथा जनजीवन के वृहत् स्वरूप का समन्वित रूप समाजपरक ही माना है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने अपनी समीक्षा पद्धति में उस कवि को अधिक श्रेष्ठ माना है जो जन–जीवन को प्रधानता देकर चला है। उनको मान्य है 'सूरदास जी अपने भाव मग्न रहने वाले थे अपने चारों ओर की परिस्थिति की आलोचना करने वाले नहीं। संसार में क्या हो रहा है, लोक की प्रवृत्ति क्या है, समाज किस ओर जा रहा है, इन बातों की ओर उन्होंने ध्यान नही दिया।[2]

तुलसीदास जी लोक की गति के सूक्ष्म आलोचक थे। वह अपने बीच पैदा होने वाली बुराईयों को तीव्र दृष्टि से देखने वाले थे। जिस प्रकार उन्होंने अपने समय की जनता की दुर्दशा और दुवृत्ति तथा मर्यादा के ह्रास पर दृष्टिपात किया है उसी प्रकार लोक मर्यादा के ह्रास पर दृष्टिपात किया है। उसी प्रकार लोक मर्यादा के ह्रास में सहायता पहुंचाने वाली प्रच्छन्न शक्तियों को भी पहचाना है।[3] जनजीवन का आधार मौखिक परम्परा में कवि संश्लेषण के लिए इस प्रकार उद्धृत हुआ है :–

सूर–सूर तुलसी ससि उडुगन केशवदास।
सूर शशि तुलसी रवि उडुगन केशवदास।।

सतसैया के दोहरे ज्यों नावक के तीर।
देखन में छोटे लगें घाव करें गम्भीर।।

---

[1] गध पथ, पृ0 76
[2] भ्रमर गीत सार, पृ0 47
[3] भ्रमर गीत सार, पृ0 48

जनजीवन को मान, स्वाभिविक चित्रण समाजवादी तथ्यपरकता को स्पष्ट करते हैं। जीवन और साहित्य का घनिष्ट सम्बन्ध है। समाजवादी समीक्षक ने इसी जनजीवन और लोक को पूर्ण मान्यता दी है। मनुष्य जिन रूपों और व्यापारों में लुब्ध तथा क्षुब्ध होता है उनका हमारे भावों के साथ सीधा मेल सम्बन्ध होता है। जनजीवन की इस व्यापक कसौटी को देखते हुए यही कहा जा सकता है कि भारत के सांस्कृतिक धरातल पर कवि और काव्य का सम्बन्ध नितान्तः जुड़ा हुआ है। भारतीय जीवन के विविध क्षण और विविध भोग साहित्य को जनवादी रूप में ही मिलते हैं। जिसमें भारत की सच्ची वास्तविकता और यथार्थ है।

* *

तृतीय अध्याय

समाजशास्त्रीय हिन्दी समीक्षक

हिन्दी की समाजशास्त्रीय समीक्षा मार्क्सवादी दर्शन भौतिकवाद से प्रभावित है। सामाजिक यथार्थवादी प्रवृत्ति का विस्तार तथा प्रभाव प्रगतिशील साहित्यिक विधाओं में परिलक्षित हो रहा है। समाजशास्त्रीय समीक्षकों ने युग की उद्‌बुद्ध चेतना के विकास में नवीन साहित्य का सृजन और पुरातन का मूल्यांकन किया है। समाज, साहित्य, संस्कृति की व्याख्या उन्होंने मार्क्सवादी दार्शनिक धरातल पर की है। समीक्षा के प्रतिमान जीवन सापेक्ष साहित्य की सार्वकालिकता और सार्वजनिकता को लेकर यह तो निश्चय है कि समीक्षा की सामाजिकता जो उद्‌भूत हुई है वह जनवादी संस्कारों में है। सामाजिक, राजनैतिक एवं आर्थिक सिद्धान्त के रूप में मार्क्सवादी समीक्षक बुर्जुआ दर्शन के विरोधी हैं।

1. डॉ0 रामविलास शर्मा :

हिन्दी समीक्षा जगत के एक प्रधान समाजशास्त्रीय समीक्षक के रूप में डॉ0 शर्मा को याद किया जाता है। उन्होंने मार्क्सवादी धारणाओं को दृढ़ता से अपनी समीक्षा कृतियों में समाहित किया है। उनकी तमाम समीक्षा कृतियों में जनवादी सामाजिक यथार्थवाद की गंध है। डॉ0 शर्मा ने जर्मन के दर्शन, इग्लैण्ड के अर्थशास्त्र, फ्रांस के समाजवाद, रूस के सामाजिक यथार्थवाद तथा भारत के सांस्कृतिक वाद के सम्मिलित स्वरूप को हिन्दी समीक्षा विधा में अवतरित किया है। डॉ0 शर्मा शत-प्रतिशत साम्यवादी हैं और साथ ही

मार्क्सवादी दर्शन तथा द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के विद्वान हैं। उनका समीक्षा साहित्य जहाँ साम्यवादी विचारणा से प्रभावित रहता है वहाँ मार्क्सवादी पकड़ स्पष्ट परिलक्षित होने लगती है। उन्होंने प्रगतिवाद के सैद्धान्तिक वाद का विश्लेषण करते हुए साहित्यिकता को समुचित स्थान दिया है। अन्य समाजशास्त्रीय समीक्षकों की भांति केवल अर्वाचीन साहित्य के ही मर्मज्ञ वे नहीं हैं। उन्होंने प्राचीन साहित्य का भी बड़ी गहराई से सामाजिक और आर्थिक पृष्ठभूमि में अध्ययन किया है।

साहित्यकार युग बोध तथा परिस्थितियों के झंकृत झकोरों मे अपने मनोभावों, आकांक्षाओं एवं वैचारिक संघर्षो का नियमन तथा प्रणयन करता है। जैसे–जैसे सन् 1936 के प्रगतिशील आन्दोलन ने मार्क्सवादी विस्तार का प्रभाव हिन्दी साहित्य पर उड़ेला वैसे–वैसे डॉ0 शर्मा जैसे व्यक्ति ने साहित्य की भावगत सौन्दर्य के प्रतिमान के स्थान पर वस्तुगत सत्ता का एहसास किया। जनवादी समाजवादी दृष्टि का प्रयोग डॉ0 शर्मा की विभिन्न कृतियों में मिलता है। उन्होंने 'प्रगति और परम्परा' जैसी कृति में वर्ग द्वन्द्व तथा क्रान्तिकारी भावना का उद्वेलन करते हुए लिखा है कि साहित्य अमर कीर्ति है। इसकी आधार भूमि आर्थिक और राजनैतिक उत्पीड़नता है। साहित्यकार को वैचारिक धरातल पर उतर कर ठोस कल्पना करनी होगी।[1] प्रगतिशील साहित्य यथार्थ भूमि की पहचान रखता है। समाज को आगे बढ़ाने तथा मनुष्य के विकास में सहायक

---

[1] प्रगति और परम्परा, पृ0 4

होना उसका धर्म–कर्म है। डॉ0 शर्मा ने साहित्यिक कथ्य के अतिरिक्त उसके शिल्प पक्ष पर बल देते हुए कहा है कि प्रगतिशील साहित्य अब भी प्रगतिशील है जनबद्ध साहित्य है। यदि वह मर्मस्पर्शी नहीं तब प्रगति के लिए बाधक है।[1] मार्क्सवादी दर्शन और समाजशास्त्र का प्रश्न डॉ0 शर्मा की रचनाधर्मिता में बार–बार समाज के भौतिक जीवन में उत्पादन पद्धति से सामाजिक, राजनैतिक और मानसिक जीवन का ज्ञान निश्चित रहता है। राजनीति, दर्शन, धर्म, कला आदि के विकास का आधार साहित्य धरातल ही है।

डॉ0 शर्मा की साहित्यिक संरचना सामाजिक यथार्थ को लेकर प्रतिबिम्बित हुई है। डॉ0 शर्मा यथार्थ के विरोध में अपने साहित्य को एक चुनौती देते हैं। धर्मवीर भारती की 'एक प्रगतिवाद समीक्षा' पुस्तक पर प्रहार करते हुए

वे कहते हैं–प्रगतिवाद एक समीक्षा में धर्मवीर भारती ने प्रगतिशील आलोचकों पर वही आक्षेप किये हैं जो चौहान ने इस किताब के पहले और बाद में किये थे। भारती का कहना है कि स्वयं प्रगतिवादियों ने सिवाय तीखी अवसरवादी आलोचना एवं दलबन्दी तथा गालीगलौज के अभी तक गम्भीरता एवं शान्ति से समस्याओं के विश्लेषण में उदारता, समझदारी और दूर–दर्शिता का परिचय नहीं दिया है।[2] डॉ0 शर्मा ने चौहान की तरह भारती को झुझंलाहट करके नहीं देखा वरन् यह सिद्ध कर दिया कि विश्व साहित्य में मार्क्सवाद और प्रगतिवादी आन्दोलन में एक दिन गोर्की, रोला तक सम्मिलित थे जिससे असर्ट टालर और

---

[1] प्रगति और परम्परा, पृ0 5

[2] संस्कृति और साहित्य,–भूमिका

रेल्फ फॉक्स जैसे शहीदों ने उसे अपने खून से सींचा था। भारती को चौहान की तरह किन मार्क्सवादियों से कितनी हमदर्दी है।

डॉ0 शर्मा ने रचना का आंकलन बौद्धिक धरातल पर करने की अनिवार्यता पर बल दिया है। साहित्यिक संरचना की दृष्टि से डॉ0 शर्मा सम्प्रति दशक में भाषा के विकासात्मक इतिहास की ओर जुड़ गये हैं। उन्होंने जहां निराला जैसे मूर्धन्य कवि कलाकार के व्यक्तित्व एवं कृतित्व पर व्यावहारिक समीक्षा कृतियाँ प्रदान की हैं वहां दूसरी ओर प्रवर भाषाविद के प्रमाण स्वरूप उन्होंने विश्व भाषा तथा आर्य परिवार की भाषाओं का ऐतिहासिक विवेचन कर समीक्षा का स्वरूप वैज्ञानिक धरातल पर प्रस्तुत किया है। उनकी समीक्षा पर्याप्त प्रौढ़ एवं विकसित है जो आज भी समीक्षा की समृद्धि में विशिष्ट प्रतिमान है।

डॉ0 शर्मा उन लोगों से मतभेद नही करते जो समीक्षा विधा के सही रूप पहचानते ही नहीं हैं। उनका मतभेद ऐसे साहित्य समीक्षकों से है जो पहचानते हुए भी मानते नहीं है। ऐसे लोग साहित्य को समाजहित या अहित से परे मानकर केवल रूप की प्रशंसा करके आलोचना की इति कर देते हैं। उनके बिहारी और तुलसी दोनों ही वन्दनीय हैं और दोनों की ही परम्परा समान रूप से वांछनीय है। डॉ0 शर्मा का मन्तव्य है कि प्राचीन साहित्य का मूल्यांकन करते हुए समाज के हित तथा अहित को भूल जाना चाहिए। उन्होंने लिखा है –"यदि दरबार में राजाओं की चाटुकारिता करते हुए भी श्रेष्ठ साहित्य रचा जा सकता था तो इसे संत कवियों की सनक मानना चाहिए कि वे दरबारों में सानन्द पूर्वक

समय न बिताकर चिमटा बजाते हुए रूढ़िवादियों का विरोध सहन करते रहे"।[1] डॉ0 शर्मा आधुनिक साहित्यकारों विशेषतः भटके हुए मार्क्सवादियों के विषय में अपनी लेखनी चलाते हैं तब वे कट्टर मार्क्सवादी दर्शन के पक्षधर हो जाते हैं। डॉ0 शर्मा अपने ओजस्वी स्वभाव के कारण मार्क्सवाद के विरोध में कुछ सुन नहीं सकते हैं। अपने मत का प्रतिपादन करते हुए उन्होंने साहित्य और विचारधारा का अन्तः सम्बन्ध मान्य किया है।

2. श्री शिवदान सिंह चौहान :

श्री शिवदान सिंह चौहान ने प्रगतिवादी सिद्धान्तों, मार्क्सवादी दर्शन की स्थापनाओं, सर्वहारा वर्ग की ऐतिहासिक भौतिकवादी विचारधाराओं का विवेचन किया है। उन्होंने मार्क्सवादी अवधारणा को अपने जीवन से आत्मसात करते हुए प्रभावव्यंजक अवधारणा प्रस्तुत की है। श्री चौहान हिन्दी की समाजशास्त्रीय समीक्षा में अपना एक विशिष्ट स्थान रखते हैं। उनके पदार्पण से समीक्षा क्षेत्र में एक हलचल का सूत्रपात हो गया। ऐसी मेधावी प्रतिभा अटल स्पर्शी दृष्टि तथा मार्क्सवादी समीक्षा का गहन अध्ययन और उसे भारतीय परिवेश में लागू करना हिन्दी साहित्य के लिए एक मौलिक प्रयत्न था। सर्वप्रथम 1937 में 'विशाल भारत' में किसी साहित्यकार विशेष पर कोई प्रहार नहीं था, किसी प्रकृति विशेष पर कोई कटोक्ति नहीं की गयी थी लेख का प्रमुख कलेवर मार्क्सवाद द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद तथा युगीन परिस्थितियां तथा उनका पारस्परिक सम्बन्ध था। श्री चौहान मार्क्सवादी दृष्टि को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि '15 साल हो

---

[1] संस्कृति और साहित्य–भूमिका

गये जब से मार्क्सवाद, कम्युनिष्ट पार्टी और जनता का सक्रिय कार्यकर्ता रहा हूँ और आजीवन रहूँगा। यही मेरा जीवन है, यही मेरा वस्तुदर्शन और विज्ञान हैं केवल पढ़ लिखकर पाया हुआ ही नहीं वरन् उप चेतना में आत्मसात होकर रक्त मांस में घुलमिल कर हृदय में पुनः जन्मा वस्तु ज्ञान के इन्द्रिय बोध के साथ–साथ मन में सतत पनपा। कृतियों में संवेदनाओं मनोवेगों और सहजभाव प्रक्रियाओं के सहारे चेतना में विकास पाया। मार्क्सवाद मेरे जीवन की स्वांस है।[1]

वस्तुतः समाज में हो रहे जीवन मूल्यों में परिवर्तन तथा तदनुसार साहित्य की रचना मार्क्सवादियों का ध्येय रहा है। श्री चौहान ने उस युग में जिस साहित्य का सृजन हो रहा था उसकी उपादेयता पर भी प्रकाश डाला है। मुंशी प्रेमचन्द की मृत्यु के बाद वे हंस के सम्पादक बन गये और इसी समय से उनकी लेखनी अनवरत रूप से संवरती चली गयी तथा इस काल में वे अपने लेखकों से बराबर हिन्दी के कई लेखकों को एक मंच पर लाने का प्रसास करते रहे तथा उन्हें आत्मपीड़न, निराशावाद, फ्रायडवाद, अभिव्यंजनावाद आदि हिन्दी में उस युग में प्रचलित विघटनवादी प्रवृत्तियों से बचाते रहे। वे एक समन्वयशील और स्वतन्त्रचेता विचारक रहे। उन्होंने डॉ0 रामविलास शर्मा की प्रगतिशील मान्यताओं का भी खण्डन किया। वे स्पष्ट रूप से यह उद्घोष करते रहे कि समाजशास्त्रीय साहित्य सोवियत साहित्य का पर्याय नहीं है। किसी विशेष साहित्य सिद्धान्त या पार्टी नीति के अनुसार लिखा गया साहित्य नहीं है वह सांस्कृतिक विरासत का ऐतिहासिक विकास नहीं बल्कि सांस्कृतिक उन्नति में योग

---

[1] नई चेतना, अंक–4, पृ0 34

दिया है।[1] श्री चौहान समाजशास्त्रीय सांहित्य की धारा को मार्क्सवादी दृष्टि से परखते अवश्य हैं परन्तु उनका वैचारिक धरातल निजी है।

समाजशास्त्रीय इतिहास वर्ग संघर्ष का इतिहास है। इस रूप में प्रगतिशील लेखकों ने शोषण और उत्पीड़न के विरूद्ध क्रान्ति का स्वर संसाधन किया है। श्री चौहान कहते हैं कि इस मन्द घोष से एक ओर साहित्य की क्षय ग्रस्त प्रवृत्तियों का सर्वनाश हुआ है तो दूसरी ओर समाज की विकासोन्मुख शक्तियों को स्थान मिला है।[2] श्री चौहान की दृष्टि यथार्थवादी और समाजवादी है। साहित्य में यथार्थ को ही उन्होंने विशेष रूप से प्रश्रय दिया है। यह साहित्य शोषकों के विरूद्ध शोषितों को और पूंजीवाद के विरूद्ध समाजवादी यथार्थवाद को विशेष महत्व प्रदान करता है। इसके नैतिक मूल्यों और समाज सम्बन्धों के साथ पूर्वाग्रह युक्तता है। इसीलिये इनका दृष्टिकोण मानवतावादी है। यथार्थवाद, प्रगतिवाद और समाजवाद के बारे में उनका कहना है कि तीनों ही जीवन वास्तव के सम्पूर्ण पूर्ति, कलात्मक प्रतिबिम्बिन को साहित्य का लक्ष्य मानते हैं और उनके निकट वास्तविकता का सत्य ही कला की अन्तिम कसौटी बन जाता है। लेखक का विश्व बोध ही इन प्रवृत्तियों में आन्तरिक बोध का मूलाधार बन जाता है।[3] समाजवादी यथार्थवाद की कृतियों से स्पष्ट है कि समानता और सहयोग के वातावरण में हर व्यक्ति के भीतर का मानव अपनी पूरी क्षमताओं का निर्माण करते हुए निर्माण और सृजन के ऐसे साहसपूर्ण कार्य करने में ही अपने जीवन

---

[1] आलोचना जुलाई 1952, पृ0 4
[2] आलोचना के सिद्धान्त, पृ0 67
[3] आलोचना के सिद्धान्त, पृ0 162

की सार्थकता देखने लगता है और वस्तु सौन्दर्य के निकट पहुंचकर मानव मन को झकझोर देता है।

श्री चौहान की समीक्षा दृष्टि अन्य समाजवादी आलोचकों की अपेक्षा अधिक सचेत और विश्लेषणात्मक है। समाजशास्त्र और मनोविज्ञान में उनकी गहरी पैठ उनको सहज ही अंग्रेजी आलोचक हरवर्ट रीड और क्रिस्टोफर काडवैल के समकक्ष लाकर बैठा देती है। ये साहित्य में कभी भी उग्रवाद अथवा वामपंथी विचारधारा के अग्रगामी नहीं रहे। हमें उनमें एक समझौतावादी प्रवृत्ति के दर्शन होते हैं। ये वास्तविक रूप में एक उदार मार्क्सवादी रहे हैं और दक्षिणपंथी साम्यवादी विचार सिद्धान्तों के अनुयायी चौहान का दृष्टिकोण व्यक्तिपरक है। उनका इस सत्य में अमिट विश्वास है कि प्रत्येक महान लेखक की कलाकृति उसके युग की स्थिति विरोध की सृष्टि करती है तथा उसमें प्रत्यक्ष अथवा प्रच्छन्न रूप में हमें युग सत्य के दर्शन अवश्य होते हैं। भले ही उसमें वर्ग संघर्ष उतने तीव्र रूप में अभिव्यक्त नहीं थे। इसी तथ्य को वे साहित्य के इस मर्म में स्पष्ट करते हुए लिखते हैं कि महान लेखकों को इसी शोषक वर्ग के खूंटे से बांधना व्यर्थ होगा क्योंकि उनकी रचनाओं में अपने समय का समग्र जीवन तथा तमाम वर्गो के अन्तः सम्बन्ध प्रतिबिम्बित हुए हैं और इस प्रकार उस युग की मूल समस्याओं का उदघाटन हुआ है।[1]

---

[1] आलोचना सम्पादीय 1952

श्री चौहान ने कालिदास, कबीर जैसे साहित्यकारों के उदाहरण देकर उनके सामाजिक सौन्दर्य बोध का ज्ञान कराया है। उनका मन्तव्य रहा है कि प्राचीन को वर्तमान में पुनर्जीवित किया जाये। इसी कारण उनके द्वारा विश्लेषित कालिदास की समकालीन समाज और उनके साहित्य पर पड़े प्रभाव को आधुनिक चेतना के अनुरूप देखा गया है और वर्तमान काल के साहित्य को आज की समस्याओं से अनुप्राणित और उनकी भावी निराकरण दृष्टि से युक्त देखना चाहते हैं। उन्होंने इसी कारण वर्तमान पर विशेष जोर देकर युग यथार्थ की सच्चाई तथा समस्याओं को समाज के ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में अवलोकित किया है। श्री चौहान मानव मूल्यों की महत्ता का प्रतिपादन कर नये सौन्दर्य मानों और साहित्य तथा समाज के नये सम्बन्धों की स्थापना करना चाहते हैं। उन्होंने इन स्थापनाओं के द्वारा मनुष्य के विश्व बोध तथा उनकी भाव चेतना को उदात्त तथा मानवीय बनाने के लिए प्रयत्न किया है। आलोचक के आलोच्य धर्म का उनका यह कथन ध्यातव्य है–"आलोचक मानव इतिहास की प्रगति दिशा की गहरी चेतना से साहित्य की कृतियों और प्रवृत्तियों तथा उनमें व्यक्त विचारों और भावनाओं का मूल्य आंकता है और विवेचन से यह देखने की चेष्टा करता है कि उनमें कितनी कलात्मक सच्चाई जीवन के सौन्दर्य में प्रतिबिम्बित हुई है। सत्य को अभिव्यक्ति देने के संदर्भ में आलोचक लेखक का सहयोगी है।"[1] श्री चौहान

[1] साहित्य की समस्यायें, पृ0 130

की समीक्षा दृष्टि उत्तरोत्तर विकसित होकर कार्लमार्क्स से लेकर अद्यतन सामाजिक सम्बन्धों में अनुप्रेरित रही है। सामाजिकता, सौन्दर्य मूलकता का स्वरूप श्री चौहान की समीक्षा दृष्टि में विद्यमान है।

3. प्रो0 प्रकाशचन्द्र गुप्त :

प्रो0 गुप्त समाजशास्त्रीय हिन्दी समीक्षा के प्रमुख समीक्षक हैं। साहित्य के निर्माण में मानव जीवन की अनुभूतियों तथा कल्पना का महत्व सभी मार्क्सवादी समीक्षक स्वीकार करते रहे हैं। गुप्त ने इनके अतिरिक्त जगत के द्वन्द्ववादी भौतिक धरातल की भलीभांति पहचान की है। मनुष्य की विचारधारा उसी भौतिक द्वन्द्व की देन है क्योंकि विचार यथार्थजगत के प्रतिबिम्ब हैं। गुप्तजी ने इस प्रवृत्ति के समर्थन में लेखनी उठाई जो समाज तथा साहित्य को प्राणदान बनाती रही। उनकी विचारधारा के दो पक्ष हैं–प्रथम वह रचनात्मक साहित्य में रूचि लेते हैं; दूसरे–उन्होंने अपने युग की आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक परिस्थितियों का विश्लेषण किया है। उनका प्राचीन कवियों, साहित्यकारों के प्रति पूर्वाग्रह तो नहीं था परन्तु उनकी प्रभाव महत्ता से वे इन्कार न कर सके। उनका अभिमत रहा है कि साहित्य की समीक्षा का अधिकार उन्हीं के करों में होना चाहिए, जिन्होंने वाल्मीकि, व्यास, भास, कालिदास, भारवी, गेटे, होमर आदि महान साहित्यकारों का अध्ययन सहृदयता पूर्वक किया है, जिनकी दृष्टि समाज के सामन्य, आर्थिक, राजनैतिक आदि विचारों से मलिन न हो गयी हो। जिन्होंने अपनी रस संवेदना को शिक्षित और विकसित कर लिया हो जिन्होंने नये पुराने

कलाकारों के चरणों में बैठकर अपनी रस संवेदना का परिष्कार कर लिया हो और जो साहित्य के मर्म को साहित्य के रूप में ही देखता हो वह साहित्य का असली पारखी है।[1]

प्रो0 गुप्त रचनात्मक साहित्य के प्रणेता रहे हैं। प्राचीन और अर्वाचीन कवियों की उन्होंने जीवन मूल्यों के आधार पर विवेचना की है। तुलसीदास का विश्लेषण करते हुए वे उनके युग की आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक परिस्थितियों का विश्लेषण करते हैं उन्होंने लिखा है –''इतिहास उन्हें (तुलसी) एक महान कवि के रूप में स्वीकार कर चुका है। इस सत्य को सभी मुक्त कंठ से स्वीकार करेगें। भारतीय संस्कृति की परम्परा में तुलसीदास के इस उत्तराधिकार को अपना कर ही हम विकास के पद पर चल सकते हैं। तुलसी साहित्य का वैज्ञानिक और ऐतिहासिक विश्लेषण उसके अन्तः विरोधों को स्पष्ट करता है किन्तु उन्हें हमारी जनवादी परम्परा के रूप में प्रकट करता है।[2]

प्रो0 गुप्त की समीक्षा का समाजशास्त्रीय विचार दर्शन सुदृढ़ है। उन्होंने अपनी युगीन परिस्थितियों का विश्लेषण मार्क्सवादी विचारधारा के धरातल पर ही किया हैं मार्क्सवादी दर्शन उन्हें सामाजिक तथा साहित्यिक गति का अन्तरंग परिचय देता है। मार्क्सवाद से प्रभावित समीक्षक वैज्ञानिक, ऐतिहासिक और सर्वांगीण है। क्षयग्रस्त समाज सम्बन्धों को स्वीकार करने वाली विचारधारा प्रतिगामी होती है। गुप्त जी ने इस प्रतिगामी विचारणा से परांगमुख होकर

---

[1] साहित्य धारा, पृ0 56–57
[2] आलोचना अंक–3

कहीं–कहीं प्रभाव–व्यंजक सूत्र पिरोये हैं। सूरदास, प्रसाद और निराला पर लिखे गये उनके आलोचनात्मक लेखों से यह सहज ही विदित हो जाता है, जिसमें उन्होंने सत्य, शिव और सुन्दर की आराधना को वस्तुगत यथार्थमय स्वीकार किया है। जीवन की प्रगतिशीलता परिवर्तन के कुहासे में ढकी रही है। गुप्त जी का कथन है कि हम जीवन को गतिशील और विकासमान समझते हैं, जड़स्थावर नहीं। सत्य और सुन्दर के भी अधिकाधिक सुन्दर भाग हमें समाज और कला में मिलते हैं।[1]

प्रो0 गुप्त ने सामाजिक विचारधारा से प्रभावित होकर साहित्य को सोद्देश्य स्वीकार किया है। उस सोद्देश्य से साहित्य के प्रचारात्मक पथ को बल मिला है और मिलता है, चाहे भले ही कला एवं भाव पक्ष की अभिव्यंजना फीकी पड़ जाये। कला साहित्य को उन्होंने जीवन का उद्घोष बताया है। जन जीवन सामाजिक विचारधारा से जुड़ा रहता है, इसीलिए प्रो0 गुप्त ने कलाकार का विचार दर्शन समाज सापेक्ष स्वीकार किया है। सामाजिक विचारधारा से प्रभावित साहित्यकार इसी विचारधारा को अपनाकर सृजन के कार्य में प्रवृत होता है। समीक्षक उसका समुचित विश्लेषण करने के बाद ही कृति के समाजबोधीय लालित्य का सही अर्थों में समाकलन करने में सक्षम होता है। प्रो0 गुप्त कलाकार के व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति और मानवीय चेतना प्रभावित करने का उचित माध्यम मानने के वाबजूद कलात्मक कुशलता को विशेष महत्व प्रदान करते हैं। यद्यपि उनकी दृष्टि मार्क्सवादी है फिर भी कलात्मक गत्यात्मकता से वह विमुख नहीं

---

[1] नया हिन्दी साहित्य एक दृष्टि, पृ0 71

है। उनकी समीक्षा पद्धति यांत्रिक न होकर गत्यात्मक है। उसमें मार्क्सवादी जीवन दृष्टि अधिक है। उन्होंने हिन्दी साहित्य पर एक ओर जहां मार्क्सवाद के वर्गपरक दर्शन पर यथेष्ट प्रभाव डाला है तो दूसरी ओर काव्य के सनातन रूपों को वे अलग नहीं कर सके। समाजशास्त्रीय अवधारणा का यह मिलाजुला रूप प्रो० गुप्त में देखा जा सकता है। साहित्य के निर्माण में मानव की सूक्ष्म अनुभूतियों का विश्लेषण कर उन अनुभूतियों की संश्लिष्ट इकाई पर उन्होंने विचार किया है। सामाजिक जीवन की यथार्थता सदैव कल्पना और अनुभूति के माध्यम से प्रकट हो ऐसा भी मानने में वे हिचक करते हैं फिर भी कल्पना और अनुभूति का समंजन समीक्षा दृष्टि पर आरूढ़ित होकर अभिनव दिशा प्रशस्त करता है।

4. श्री अमृत राय :

श्री अमृत राय श्री चौहान के पश्चात् 'हंस' के सम्पादक रहे हैं। उन्होंने संयुक्त मोर्चे के रूप में मार्क्सवादी चिन्तन का प्रतिफलन साहित्य में निरूपित किया है। समाजशास्त्रीय हिन्दी साहित्य के विकास में उन्होंने सक्रिय सहयोग दिया और क्रान्ति से पूर्ण आलोचनात्मक लेख भी लिखे। साहित्य कृति की परख साहित्यिक भावों पर न करके उन्होंने विचारधारात्मक दृष्टि से की है। साहित्यकार जितनी अधिक सम्वेदनाओं के साथ जीवन को अपने साहित्य में उतारता है वह उतना ही बड़ा साहित्यकार होता है। प्रगतिवादियों ने जबसे साहित्य में जीवन को उतारने का स्वर बुलन्द किया तभी से अमृतराय समीक्षक के रूप में अधिक प्रकाश में आये। उनका जीवन से अभिप्राय काल्पनिक

स्पप्नीय जीवन से नहीं प्रत्युत जीवन संघर्ष से है।[1] उनके समीक्षात्मक लेख हंस के सम्पादन काल में विशेष रूप से उभरकर आये। इनका संकलन नयी समीक्षा कृति में हुआ। कहीं–कहीं मौलिकता से वंचित केवल रटे–रटाये सूत्र उनके लेखों में मिलते हैं कि साहित्य वर्गवादी होता है। हमारी वस्तु स्थितियां ही हमारी चेतना को निर्मित करती हैं। साहित्य और संस्कृति के विकास पर मूलाधार हमारी आर्थिक परिस्थितियाँ होती है। जैसे लेखों का समाजवादी मूल्य पिष्टपेषण मात्र है। एक उदाहरण द्रष्टव्य है–वर्ग संघर्ष की तीक्ष्णता पर पर्दा डालना ही सुधारवाद की मुख्य विशेषता है। अपने अन्दर इसी चीज से लड़ना हर मार्क्सवादी लेनिनवादी समीक्षक का पहला काम होना चाहिए। सुधारवाद, क्रान्तिकारी, मार्क्सवाद, लेनिनवाद का हर वर्ग शत्रु है और उसके साथ वैसा ही बर्ताव करना चाहिए।[2]

अमृत राय मूलतः कथाकार हैं। उनके पास शिल्प विधान है लेकिन भाषा की शक्ति जब तक पैनी, सूक्ष्म संवेदन की क्षमता से समलिप्त न हो तब तक आलोचना के लिए अधिक महत्व नहीं रखती। नयी समीक्षाकृति में उन्होंने मार्क्सवाद को बखूबी परवर्ती समीक्षाओं के तहत उजागर किया है। जीवन संघर्ष से पैदा मानसिक, वैचारिक व भावात्मक उथल–पुथल राय के साहित्य में देखी जा सकती है। यथार्थवादी साहित्य की विशेषताओं को प्रतिपादित करते हुए वे अनुभूति की गहराई और अभिव्यक्ति की मार्मिकता को अनिवार्य रूप से स्वीकार

---

[1] नई समीक्षा एक दृष्टि, पृ0 104
[2] नई समीक्षा–भूमिका

करते हैं। समाजवादी यथार्थ जीवन की यथार्थता को लेकर अग्रसर होता है वह जीवन के ह्रास के चित्र अंकित करता है। साथ ही साथ नवोद्भूत जीवन चित्रों को सच्चे प्रतिबिम्बन को वह देखता है। सामाजिक जीवन में अमानसिकता, बर्बरता, हिंसा तथा शोषण प्रक्रिया के विरूद्ध सच्चा कलाकार जन एकता की क्रान्तिकारी शक्तियों का परिचय देता है। अमृतराय ने यही विचारधारा निरूपित की है। उसके साहित्य में आशा के स्वप्न होंगे, प्रातःकाल के अरूणिमा का अनुराग होगा और हमारे भविष्य किरणों का प्रकाश होगा क्योंकि यथार्थ के गरल को पीकर जनक्रान्ति और सर्वहारा वर्ग की जीत में आस्था बनाये रखना समाजवादी यथार्थवाद का मुख्य गुण है।[1]

अमृतराय ने यथार्थवाद तथा साहित्य निहित समाजवाद का प्रतिबिम्बित रूप विश्व जगत में व्याप्त पाया है। उन्होंने प्राचीन कालीन कवियों के साहित्य का समाकलन सामाजिक विचारधारा के साथ किया है।

व्यक्ति विश्लेषण में युगीन परिस्थितियों को उनके सामाजिक सम्बन्धों को उनके आवश्यकताओं की दृष्टि में रखा जाना चाहिए। इस पर विचार करते हुए राय का मत है कि साहित्य जीवन की कठोर वास्तविकताओं पर विकसित हुआ है।[2] उन्होंने व्यक्तिवादिता का विरोध करते हुए महादेवी वर्मा के साहित्यिक लक्ष्य को संघर्षशील चेतना का भोग कहा है। व्यक्तिवादिता के खिलाफत में सर्वत्र सामाजिकता की अपेक्षा पर बल दिया गया है। देश या विदेश

---

[1] नई समीक्षा–भूमिका
[2] नई समीक्षा–भूमिका

का कोई भी रचनाकार हो, युग बोध से हटकर सामाजिक को कुचलकर चल नही सकता। देश काल की संवेदनीयता के कारण रचनाकार अपने युग में तथा युगान्तर में जन समाज द्वारा समादृत होता है। साहित्य और समाज के सम्बन्ध की इस बृहद् सीमा तक स्वीकार करने के कारण ही वे मार्क्सवाद आलोचना का आधार साहित्य समाज और इतिहास का त्रिकोणात्मक सम्मेलन स्वीकार करते हैं।

5. डॉ0 भगवतशरण उपाध्याय :

डॉ0 उपाध्याय प्राच्य एवं पाश्चात्य दोनों साहित्य के प्रकाण्ड पंण्डित रहे हैं। इतिहास के गहरे मर्मज्ञ होने के कारण उन्होंने साहित्य, इतिहास और समाजशास्त्र के त्रिकोणात्मक सम्बन्ध को प्रतिपादित किया है। भारतीय संस्कृति जहां केवल आदर्शवादी परिधि में ही मूल्यांकन की गयी थी, उस समय डॉ0 उपाध्याय ने वैचारिक धरातल पर संस्कृति का ऐतिहासिक परिपार्श्व जीवन के अधिक निकट देखा। यों तो उनकी समीक्षा का क्षेत्र भारतीय संस्कृति और इतिहास ही रहा है फिर भी उन्होंने हिन्दी साहित्य से अपना लोकप्रिय ग्रंथ ''खून के छींटें इतिहास के पन्नों पर'' लिखकर एक अभूतपूर्व चेतना का उद्घाटन किया। उनके सभी लेखों का मूलाधार भारतीय रस शास्त्र, पाश्चात्य सौन्दर्य शास्त्र तथा ऐतिहासिक भौतिकवाद है। ''कालिदास का भारत'' में भी उन्होंने युग की आर्थिक, राजनीतिक और सामाजिक परिस्थितियों का चित्रण किया है तथा कालिदास के साहित्य को पारस्परिक प्रतिमानों की कसौटी पर न कसकर

ऐतिहासिक और समाजशास्त्रीय पद्धति से तोला है। उनका विचार है कि साहित्य, समाज, इतिहास, दर्शन की त्रिवेणी में स्नात एक वैचारिक परिकल्पना है।[1] साहित्यकार को पहले साहित्यिक होना चाहिए और फिर लोकवादी स्वर का प्रयोक्ता। उन्होंने साहित्य में इस दृष्टि से जनवादी सौन्दर्य बोध की गवेषणा की है, जिसमें द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद का मूलाधार छिपा हुआ है। डॉ0 उपाध्याय साहित्य में कला संस्कृति, दर्शन आदि सभी सांगोंपांग निरूपण सिद्ध करते हैं। वे इतिहास, संस्कृति, कला, साहित्य और समाजशास्त्र के विद्वान हैं। इसी कारण इनके समीक्षा ग्रंथ युग की सामाजिक, धार्मिक, राजनैतिक व्यवस्था, कला सम्बन्धी विचारणा तथा दर्शन का तात्कालिक जीवन में स्थान आदि से परिपूर्ण है।

उपाध्याय जी ने आधुनिक साहित्य पर भी ऐतिहासिक एवं सामाजिक चेतना के तहत लेख लिखे हैं। उन्होंने मुख्यतः दो प्रकार की कलाओं का विवेचन किया है—सर्वहारा वर्ग की कला और अभिजात्य वर्ग की कला। सभी चिन्तन सूत्रों में किसी बात विशेष का आग्रह नहीं है लेकिन उनकी समाजवादी पकड़ बहुत ही शक्तिवान है।

वस्तुतः आचार्य शुक्ल जैसी पैनी—दृष्टि, नन्द दुलारे बाजपेई जैसी सौन्दर्य संवेदना, आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी जैसी सांस्कृतिक और ऐतिहासिक अन्वेषणा डॉ0 उपाध्याय में भी विद्यमान है।

---

[1] कालिदास का भारत भूमिका

कवि–विचारक दिनकर प्रगतिवादी पथ के अग्रणी कवि तथा विचारक हैं सम्प्रति युग बोध के संदर्भ में उनका ज्ञान परिपक्व है। सहित्य में युग काल बोध मार्क्स की देन है। वैज्ञानिक, दार्शनिक और समाजशास्त्री काल की जिस ग्राह्य भावना को नहीं समझते उसी भावना को अभिव्यक्ति देने वाले कवि दिनकर आत्मसात करने में सक्षम हैं। दिनकर जी ने परिवेश जन्य मानव मूल्य तथा नैतिक मान्यताओं को साहित्य के अन्तर्गत अवधारित किया है। उन्होंने कहा है कि परिवेश काल का एक तरह से वह अंश है जो समकालीन अथवा वर्तमान है।[1] साहित्य की प्रगति और जनवादी जीवन प्रगति अभिन्न है। साहित्य परिवेश और मानव मूल्यों से सन्निहित रहता है। अभिव्यक्ति की पूर्णता प्राप्त करने के लिए कलाकार को शैली की मौलिकता, रीति की नवीनता और सबके स्वरों से बचकर अपना स्वतन्त्र स्वर युग बोध की कसौटी पर फूंकना पड़ता है। दिनकर के काव्य तथा काव्य मर्म पारखी को सामूहिक चेतना से परिचयात्मक तरीके में देखना चाहा है। काव्य कामिनी जीवन सहचरी होती है। गुणों के वर्णन में कविता का मूल्य गुणानुकूल प्रवृत्ति होने के कारण निखर पड़ता है। दिनकर जी की भावना युग विगलित भावों को व्यक्त करती है–देश, माता का शल्य श्यामल अंचल सिर्फ इसलिए सुन्दर नहीं है क्योंकि उसमें प्राकृतिक सुषमा निखर रही है वरन् इसलिए कि उसके साथ भारतीय किसानों की श्रमपूर्ण आशाएं और अभिलाषायें लिपटी हुई हैं। सच्चे कवि कलाकार को अपने देश की मिट्टी की

[1] साहित्य मुखी, पृ० 56

गंध सदैव आती रहती है।[1] उनका साहित्यिक मान मार्क्स दर्शन तथा सर्वहारा वर्ग से प्रेरित परिलक्षित होता है। दिनकर ने युग बोधीय शक्ति की पहचान इन्हीं आधारों पर की है।

सन् 1936 के प्रगतिशील आन्दोलन के सम्बन्ध में मुंशी प्रेमचन्द को ही एक युगवादी संस्था माना जाये तो समीचीन ही है। मुंशी जी एक यथार्थवादी कलाकार हैं। उनमें सहानुभूति, पैनी अन्तर्दृष्टि, विलक्षण प्रतिभा और जनवादी चित्रण शक्ति मौजूद है। विचार–दर्शन एवं जीवन दर्शन की सम्पन्न विवेचनार के वे सिद्ध कथाकार हैं। प्रगतिशील लेखक संघ का अभिनन्दन करते हुए मुंशी जी ने कहा था–"हम भारतीय सभ्यता की परम्परा की रक्षा करते हुए अपने देश की पतनोन्मुखी प्रवृत्तियों की बड़ी निर्दयता से आलोचना करेंगे। आलोचनात्मक तथा रचनात्मक कृतियों से उन सभी बातों का संचय करेंगे जिससे हम अपनी मंजिल पर पहुंच सकें। हमारी धारणा है कि भारत के नये साहित्य को हमारे वर्तमान मौलिक जीवन के तथ्यों का समन्वय करना चाहिए और वह हमारी दरिद्रता का, हमारी सामाजिकता का और हमारी राजनीतिक पराधीनता का प्रश्न बना हुआ है।[2]

मुंशी जी की दृष्टि में साहित्य दलित, पीड़ित, वंचित एवं शोषित का रक्षक है। समाज में न्याय और सौन्दर्य के प्रति नवीन दृष्टिकोण जागृत करने का उत्तरदायित्व उसी का है। उन्होंने कला को उपयोगितावादी दृष्टि से

---

[1] रीति के फूल–भूमिका
[2] साहित्य का उद्देश्य, पृ0 254

समाजशास्त्री सिद्ध किया है। उनकी कला में वस्तु के प्रति सौन्दर्य बोध सामाजिक है। उन्होंने कला को उपयोगिता वाद की कसौटी पर कसना समीचीन समझा है। मानवतावाद धर्म, नीति राजनीति तथा समाज व्यवस्था आदि सब को ऐसा रूप मुंशी जी ही ने प्रदान किया है। जिसमें न वह हिन्दु है, न मुसलमान और ईसाई बल्कि वह तो पूर्ण मनुष्य है। मुंशी जी लोकहितवादी मानव मंगल प्रेरणा से आपूरित हैं। उनमें मानवीय संवेद्य है। उन्होंने साहित्य को परिवेशजन्य जन जीवन की कथा–व्यथा से प्रतिबद्ध कर दिया है। मुंशी जी ने अपने को सदैव कलम का सिपही कहकर सर्वहारा वर्ग में ही सम्मिलित कर लिया है।

साहित्य युग सापेक्ष होता है उसकी समस्त विचारणा और शिल्पगत विशेषतायें युग और परिस्थितियों की जीवनगत प्रेरणाओं से अभिप्रेरित होती हैं। मुंशी प्रेमचन्द की विकसित अनुभूति प्रेरणा और संवेदन क्षमता युग की सूक्ष्मातिसूक्ष्म चेतना की भी अनुभूति करने की सामर्थ्य रखती है। यही कारण है कि एक युगचेता साहित्यकार अपने में युग की समग्रता समेटे रहता है और युग की समस्त चेतना को वांणी देने का प्रयत्न करता है। मुंशी प्रेमचन्द सांस्कृतिक चेतना और युग चेतना के एक जागरूक कलाकार हैं जिन्होंने प्रगतिशील परम्पराओं को युगचेतना के अनुरूप नया मार्ग प्रदान किया है।

6. डॉ0 नामवर सिंह :

डॉ0 नामवर सिंह नवोद्भूत चेतना के पक्षधर हैं। मार्क्सवादी या समाजवादी चेतना ने साहित्य के निर्माण में लेखक के व्यक्तिगत एवं कृतित्व को

भलीभांति उभारा है। डॉ0 सिंह ने साहित्य रचना की प्रक्रिया में समाज, लेखक और साहित्यिक परम्परा को एक दूसरे से प्रभावित बताया है। यही घनिष्टता, विविधता तथा जटिलता का उद्‌बोधन कृतिकार अपनी कृति के माध्यम से समाज को वैशिष्ट्यपूर्ण कृतित्व प्रदान कर देता है। सामूहिक जीवन की परिस्थिति कृतिकार के हृदय संवेदन को स्पर्श करती है। डॉ0 सिंह त्रिकोणात्मक सम्बन्ध (समाज से लेकर, लेखक से साहित्य और साहित्य से पुनः समाज) को क्रमशः परिवर्तित विकसित मानते हुए प्रगतिशील चेतना का उदय आज की सामाजिक भूमि पर अपेक्षित मानते हैं।

कार्ल मार्क्स का विशिष्ट प्रभाव युगानुकूल समग्र विश्व की इकाई में पनप रहा है। भारतीय विचारणा के बदलाव पर प्रकाश डालते हुए डॉ0 सिंह लिखते हैं—प्रगतिवादी साहित्य में शोषित जनता के लिए, देश के लिए, यथार्थ परिस्थिति के लिए, अन्तर्राष्ट्रीयता के लिए, आर्थिक और सामाजिक जागरूकता के लिए, भाषा एवं भावों के समन्वय के लिए, प्रेषणीयता के लिए, व्यंगपूर्ण भाषा के लिए, लोकत्व और जनतत्व के लिए, सामाजिक यथार्थ के लिए तथा व्यक्तिवाद के विरोध के लिए विशेष जोर दिया गया है।[1]

डॉ0 सिंह का मार्क्सवादी चिन्तन प्रगतिवादी समीक्षा का स्वस्थ मानदण्ड है। इसका पर्याय समाजशास्त्रीय हिन्दी समीक्षा है। उन्होंने मार्क्स की द्वन्द्ववादी ऐतिहासिक एवं भौतिकवादी वर्ग संघर्ष की मान्यताएँ स्वीकृत की है।

---

[1] आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियाँ, पृ0 20

ऐतिहासिक विकास के सम्बन्ध में उनका मत समाजशास्त्रीय ही है। इसके कारण उन्होंने मार्क्सवादी प्रभाव का प्रतिफलन अपनी समीक्षात्मक कृतियों में किया है। द्वन्द्ववाद विलास की एक प्रक्रिया है जिसके क्षेत्र में प्रत्येक पदार्थ तत्व एवं स्थिति सम्मिलित हो जाती है, जिन्हें वाद–प्रतिवाद तथा समन्वय का रूप कहा जाता है। डॉ0 सिंह ने संघर्षशील तत्वों को अपनी कृतियों में पहचाना है। आज सभी इस बात से सहमत हैं कि द्वन्द्ववाद का विकसनशील स्वरूप डॉ0 सिंह ने अपनी समीक्षा कृतियों में भली प्रकार मान्य किया है। विकासक्रम में जो अनेक प्रक्रिया आती हैं उनका उचित समाधान इसी पद्धति से डॉ0 सिंह स्वीकारते हैं। उन्हें आदर्शवादी पद्धतियां मान्य नहीं हैं। समाजशास्त्र के द्वन्द्ववादी भूमिका पर निर्भर डॉ0 सिंह की दृष्टि मार्क्स और एंगिल्स के मतों की व्याख्या करने में प्रतिबद्ध है। वे स्पष्ट लिखते हैं कि द्वन्द्ववाद की कसौटी है और यह मानना होगा कि आधुनिक विज्ञान ने इस कसौटी के लिए बहुत सी दिन–पर–दिन बढ़ने वाली सामग्री दी है। इस प्रकार प्रकृति विज्ञान ने यह सिद्ध कर दिया है कि अन्ततोगत्वा प्रकृति की क्रियायें द्वन्द्ववादी हैं।[1]

मार्क्सीय द्वन्द्ववाद के कितने व्यापक और गम्भीर परिणाम निकले हैं, जिनके द्वारा समाज व्यक्ति तथा इतिहास तथा अन्य मान्यताओं में कितनी भिन्नता और नवीनता आ गयी है इसका सुन्दर विवेचन डॉ0 नामवर सिंह ने किया है। समाज के इतिहास के बीच डॉ0 सिंह का समीक्षा बोध भलीभांति

---

[1] आलोचना अंक–4, सन् 1966

संश्लेषित है। साहित्य समाज का प्रतिबिम्बन है। लेखक या कृतिकार ओढ़े हुए व्यक्तित्व के कारण समाज की करवटों का इतिहास लिखा करता है।

7. प्रो0 शिवकुमार मिश्र :

प्रो0 शिवकुमार मिश्र विशुद्ध मार्क्सवादी हैं, उनका मत है कि मनुष्य की चेतना उसकी सत्ता को निश्चित नहीं करती। इसके विपरीत उसकी सामाजिक सत्ता भी उसकी सामाजिक चेतना निश्चित करती है।[1] सैद्धान्तिक भूमि पर मार्क्सवादी विचारक कला और साहित्य को प्रथम तो वस्तु और रूप के अलग–अलग कटघरे में बंट जाने का ही विरोध करते हैं और वस्तु रूप की समष्टि में ही साहित्य और कला की वास्तविक इति मानते हैं। वस्तु और रूप को अलग–अलग इकाईयों में समझने का तरीका गैर मार्क्सवादी कला चिन्तकों का रहा है। डॉ0 मिश्र ने इस दृष्टि से लिखा है –"प्रायः प्रत्येक मार्क्सवादी चिन्तक की वस्तु रूप की इस अभिन्नता को ही सच्ची कला का गौरव मिला है। उसके लिए लिये जितनी अपरिचित रूप से निहित वस्तु की कल्पना है उतनी ही वस्तु से रहित रूप की।[2] प्लेखनोव काडवेल, रेल्फ फाक्स, लुकाच तथा नये मार्क्सवादी विचारकों में से कोई ऐसा नहीं है कि वस्तु और रूप को जोड़कर नहीं चलावे। वस्तुतत्व और रूपतत्व की सामाजिक जीवन और सामाजिक वास्तविकता के सम्बन्ध में की गयी डॉ0 मिश्र की व्याख्या वस्तु सौन्दर्य बोध के निकट है। वस्तुतः उन दोनों के बीच उसी प्रकार की अन्तः क्रियायें चलती रहती

---

[1] हिन्दी आलोचना पहचान और परख, पृ0 211

[2] हिन्दी आलोचना पहचान और परख, पृ0 211

है जिस प्रकार हम आधार और वाह्य संरचना को संश्लेषित करते हैं। दोनों का अन्तः सम्बन्ध है, अन्योन्याश्रित है तथा जीवन बोध के बहुत निकट है। इस मान्यता के सम्बन्ध को डॉ0 मिश्र ने अपने समीक्षा लेखों में उद्धृत किया है।

8. डॉ0 रघुवंश :

डॉ0 रघुवंश ने सामाजिक यथार्थवाद का समीक्षात्मक मानदण्ड अपनी समीक्षा कृतियों में प्रतिस्थापित किया है। साहित्य में सामाजिक जीवन की अभिव्यक्ति यथातथ्य पूर्ण बनी रही है। जनवादी साहित्य एवं मार्क्सवादी साहित्य का, युगानुकूल विशेष महत्व है। वह स्वीकार करते हैं कि मार्क्सवाद ने वैज्ञानिक भौतिकवाद के अन्तर्द्वन्द्वीय संतुलन स्थापित करने की कोशिश की है।[1] साहित्यकार की कृति सामाजिक जीवन का प्रतिबिम्ब न होकर सामाजिक जीवन पर एक स्वतन्त्र सौन्दर्यमयी कीर्ति बनकर प्रस्तुत होती है। मार्क्सवादी समीक्षा के अनुसार समाज और साहित्य के बीच लेखक के व्यक्तित्व की स्थिति है। अतः साहित्य के रूप में जनसमूह की जो छाप प्रकट हुई है वह लेखक के व्यक्तित्व के माध्यम से निष्पन्न होती हैं डॉ0 साहब ने जनवादी साहित्य का उल्लेख किया है–"जनवादी साहित्य की दृष्टि में सम्पूर्ण सामाजिक जीवन मानवता की अभिव्यक्ति और वर्गहीन कल्पना को लेकर ही प्रस्तुत होता है...........साहित्य किसी

---

[1] हिन्दी का नया परिप्रेक्ष्य, पृ0 13

युग वर्ग समाज के मूल्यों को अर्थवान करता है और साथ ही उस युग को सांस्कृतिक गति प्रदान करता है।"[1]

भारतीय जनजीवन में वही चिन्तन प्रतिष्ठा प्राप्त कर सकता है जिसने अपनी भूमि से रस ग्रहण किया हो तथा जिसकी जड़े दूर–रस मिट्टी में जमकर अपनी हो गयी हों। ऐसा कथन डॉ0 रघुवंश को कतई बर्दाश्त नहीं। विरोधस्वरूप उन्होंने साहित्यकार की व्यापक और विस्तृत सहानुभूति को परिवर्तन के कठिन दायित्व की ओर उन्मुख किया है क्योंकि सामाजिक प्रभाव वैचारिक उत्क्रान्ति प्रदान करते हैं तभी साहित्यकार का स्वतन्त्र व्यक्तित्व संवेदनशील बन जाता है।

9. डॉ0 मन्मथ नाथ गुप्त :

डॉ0 मन्मथ नाथ गुप्त समाजशास्त्रीय धारणा के अनुरूप ही प्रगतिवादी समीक्षकों में से एक हैं। जनता की मनोभावनाओं तथा कल्याणकारी उद्भावनाओं को उन्होंने बड़ी मार्मिकता से अपने समीक्षा साहित्य में व्यक्त किया है। पीड़ित, पददलित तथा शोषित जनसमुदाय की भावना को व्यक्त करने वाली कलाकृति प्रगतिशील रचना होती हैं इस दृष्टि से श्री गुप्त जी प्रगतिवाद के सम्बन्ध में वही विचार रखते हैं जो द्वन्द्वात्मक भौतिकवादियों का है। प्रकृति द्वन्द्वात्मक पद्धति से कार्य करती हुई पुनरावर्तित वृत्त में घूमती रहती है वरन् वह

---

[1] हिन्दी का नया परिप्रेक्ष्य, पृ0 53

सदैव परिवर्तनशील होकर ऐतिहासिक विकासक्रम को कायम बनाये रखती है। गुप्त जी ने गणित और भौतिकशास्त्र की भांति समाजशास्त्र को अर्थशास्त्रीय कसौटियों पर कसा है और सिद्ध किया है कि यह पद्धति अत्यन्त वैज्ञानिक तथा समाज के इतिहास को समझने में सहायक है।[1]

गुप्त जी इतिहास, जीवन और कला को परस्पर सम्बन्धित मानते हैं। कला और इतिहास के सम्बन्ध को बताते हुए उनका अन्तर भी स्पष्ट किया है और उन्होंने माना है कि जहां इतिहास सामाजिक जीवन को अपनाकर पलता है वहां कला व्यक्तिगत न होकर समाज का चित्रण करती है।[2] कलाकृतियों में प्राप्त होने वाला आनन्द निःसंदेह अन्य सभी आनन्दों की भांति मानव की मनः स्थिति में आशा और आह्लाद का संचार करता है, जिसका सम्बन्ध जनवादी चेतना से नितान्त जुड़ा रहता है। वास्तविक जीवन से तात्पर्य गुप्त जी ने मानव के सनातन जीवन से मान्य किया है।

10. अन्य समाजशास्त्रीय एवं जनवादी समीक्षक :

साठोत्तर वर्षा में विचारधारा से प्रतिबद्धता की मांग अपने पूरे वेग से प्रस्फुटित हुई। शोषक वर्गो के चालाकी भरे नारे भारत के गरीब समाज को कुछ भी नहीं दे सके। तानाशाही द्वारा इजारेदार पूंजीपतियों के खजाने भरने तथा उससे संघर्ष करने वाले शोषित सर्वहारा वर्गो के ऊपर दमन की चक्की

---

[1] साहित्य कला समीक्षा, पृ0 7–8

[2] साहित्य कला समीक्षा, पृ0 43

चलाने वाले अभी भी जीवित हैं। ऐसी हालत में जनवादी साहित्यकारों का दायित्व दोहरा हो गया है। एक ओर वे जनमानस को सर्वहारा वर्ग की संघर्ष चेतना से पूर्ण करेंगे तो दूसरी ओर विचारधारात्मक लड़ाई में एकजुट होकर धन–सम्पत्तियों के चक्कर के कवि गीतकारों को भी अपनी कलात्मक क्षमता द्वारा परास्त करेंगे। जनवादी समीक्षकों को साहित्यिक चेता बनकर आगे चलकर बढ़ना होगा। इस दृष्टि से चंचल चौहान, कर्णसिंह चौहान, कान्ती मोहन, राजकुमार सैनी, सुधीश पचौरी, विमल वर्मा, रमेश उपाध्याय, सव्यसांची, भैरव प्रसाद गुप्त विचारणीय हैं।

'हमें साहित्यिक राजनैतिक व सामाजिक स्तर पर शोषित वर्गो की एकता को दृढ़ करके समाजवादी यथार्थवादी साहित्य की रचना द्वारा जनमानस तक पहुंचाना होगा। प्रतिबद्ध साहित्य अपने इस कार्य में क्षमता की भूमिका अदा कर रहा है।

आज यह बात अनुभूत और बहुपरीक्षित सत्य है कि जीवन जगत और विकास द्वन्द्वात्मकता पर निर्भर है। चंचल चौहान ने द्वन्द्वात्मकता का नाता और उसका अच्छा सम्बन्ध परिवर्तन तथा विकास से सिद्ध करते हुए लिखा है कि ये नियम पानी से भाप बनने, बच्चे से बुढ़ा बनने, एक युग से दूसरे युग में समाज व्यवस्था के बदलाव में तथा कला और साहित्य के विकास के परिवर्तन में काम करते हैं। विकास की भूमिका प्रतिवाद के संघर्ष से होती है।[1] प्रतिवाद का

---

[1] जनवादी समीक्षा नये चिन्तन नये प्रयोग, पृ0 9

संघर्ष सिर्फ भौतिक जगत में ही नहीं विचार जगत में भी चला है। यदि ऐसा न हो तो विचार व ज्ञान के क्षेत्र में विकास ही न हो। हिन्दी की जनवादी समीक्षा के विकास और परिवर्तन में प्रतिवाद का संघर्ष रहा है। हिन्दी की प्रारम्भिक समीक्षा चाहे भले ही अभिजात्यवादी आदर्श को ओढ़े रही हो लेकिन उत्तरोत्तर उसकी धारा में यथार्थ अन्वेषी रूप आ गया है।

साहित्यकारों का प्रतिवादी रवैया संघर्ष से परिचालित रहा है। देश काल सापेक्ष साठोत्तरी हिन्दी समीक्षा जनवादी आन्दोलनों के साथ प्रगतिमूलक बनी रही हैं यद्यपि हिन्दी समीक्षा में दो परस्पर विरोधी बिन्दु रहे हैं जिनका वस्तुवाद और भाववाद, बाद–प्रतिवाद चलता रहा है। डॉ0 चौहान का मत है कि विचारधारा गत या संघर्ष हिन्दी समीक्षा में बराबर मिलता है। इसी टकराव के फलस्वरूप विकास हुआ है।[1] आज यह बात सिद्ध हो चुकी है कि मानव समाज का इतिहास वर्ग संघर्ष का इतिहास रहा है। फिर उसकी छाया विचार जगत में क्यों न हो। साठोत्तरी हिन्दी समीक्षा के भीतर दिखाई देने वाला संघर्ष भी अप्रत्यक्ष रूप से भौतिक आधार में चल रहे संघर्ष का प्रतिफलन है।[2] जब समाज के भीतर आर्थिक राजनैतिक संघर्ष तेज हो जाता है तो साहित्य में भी इस संघर्ष की तेजी दिखायी पड़ती है।

हमारे साहित्य में भाववादी रचना वक्रतापूर्ण हो जाती है। डॉ0 चौहान ने लोक मंगल की भावना के प्रति वक्रता विहीन रचनाओं को वरीयता दी

---

[1] जनवादी समीक्षा नये चिन्तन नये प्रयोग, पृ0 12
[2] समीक्षा दर्शन, पृ0 201

है। लोकहित वाद विचारणा वर्ग संघर्ष को जन्म देती है। अतः वे रचनायें जो लोकहित करके स्थूल व सूक्ष्म के चक्कर में पड़ी हैं उनकी समीक्षा कसौटी पर खरी नहीं उतरती। यथार्थवादी नजरियें से आज साहित्य संरचना को देखना अनिवार्य हो गया है। डॉ0 समाधिया का कथन उपयुक्त ही है–''समीक्षा दृष्टि विचारात्मक होती है। वर्ग सामंजस्य परस्पर विरोधी ताकतें विचारों को क्रान्ति धर्मिता से मुक्त बनाती हैं''।[1] कर्णसिंह चौहान समकालीन चिन्तन में अग्रगण्य हैं। उन्होंने आलोचनात्मक यथार्थवादी धारा को आगे बढ़ाया है। उनके आलोचनात्मक यथार्थवाद में जनवादी प्रगतिशील तत्व पर्याप्त मात्रा में हैं। हिन्दी साहित्य के साठोत्तरी दौर के समय भारतीय समाज के शासक शोषक वर्ग का राजनैतिक आर्थिक तथा सांस्कृतिक संकट बहुत गहरा हो गया है। श्री चौहान जीवन के मुक्ति संघर्ष के पक्षधर हैं। इसमें समसामयिक रूपवादी विचारणा क्रान्ति का स्वर संधान कर रही है। उन्होंने समालोचक की वस्तुनिश्चितता पर जोर देते हुए कहा है कि समालोचक का दायित्व है कि कृति के रूप की वस्तुनिष्ठ और मनुष्य हित में पुनः सृष्टि करें।[2] शासक शोषित वर्ग सदैव यह कोशिश करता रहा है कि मात्र शब्द यानि शोषकों के आदेश प्रवचन, पार्टी, प्रोग्राम तथा कोरे शाब्दिक वायदों और झांसों को ही सर्वाधिक महत्व दिया जाये उनकी कथनी के पीछे छिपे झूंठ को न खोला जाये, उनके अन्तः सम्बन्धों की खोज न की जाये। चौहान ने जीवन के हितार्थ शब्दों की परतों को खोलना अनिवार्य सिद्ध किया है। शब्द में विसंगति

मीक्षा दर्शन, पृत्र 186

मकालीन चिन्तन, पृ0 87

विडम्बना चित्रमयता देखकर ही आलोचक को अपनी इति नहीं समझ लेना चाहिए। काव्य भाषा शिल्प केवल साधन है जिनके द्वारा अभीष्ट जनवाद की प्राप्ति हो सकती है। हिन्दी समीक्षा आज समाज में वर्ग संघर्ष के तहत अभिनव मार्ग प्रशस्त करने में आगे है। जीवन जगत के सापेक्ष सिद्धान्त को उसने समाजवादी ढांचा प्रदान कर दिया हैं इस विचारधारा से श्री चौहान सहमत हैं।

हिन्दी समीक्षा में रूपवाद से प्रतिवाद का संघर्ष साठोत्तरी वर्षो में अधिक हो गया है। प्रतिबद्ध लेखकों के सहयोग से उत्तरार्थ, उतरगाथाओं, वाम, कथा, सामयिक, क्यों, पहल आदि अनेक विध पत्रिकाओं में रूपवाद और भाववाद को अभिव्यक्ति मिली है। कान्ति मोहन इसमें अग्रणी लेखक रहे हैं। भारतीय समाज को वर्ग संघर्षो से संश्लेषित करके उन्होंने राजनीति के दलीय अधिनायक वाद को उजागर किया। सचमुच बहुत बड़ी तेजी से जुल्म और अत्याचार का शिकार शोषित वर्गो को बनाया जाने लगा हैं कान्ति मोहन का कथन है कि जिस प्रकार कांग्रेस ने झूंठे या अवैज्ञानिक समाजवाद को अपना लिया उसी प्रकार साहित्य समीक्षा ने झूठे विज्ञानों का सहारा पकड़ा।[1] वास्तव में रवीन्द्रनाथ श्रीवास्तव ने शैली विज्ञान और डॉ0 विद्यानिवास मिश्र ने रीति विज्ञान इसी वैज्ञानिक दौर में भेंट किये हैं। समाजवाद का लेविल लगा लेने पर उसे समाजवादी नहीं कहा जा सकता। देश विदेश के भाव बिन्दुओं को इकठ्ठा कर देने पर उसे वैज्ञानिक नहीं कहा जा सकता। ऐसी समीक्षा के मूल में वैयक्तिक

---

[1] उत्तरार्द्ध, पृत्र 54

चेतना रूपवादी बनकर उतर आती हैं कोई कृति जीवन जगत के प्रभावों से जनवादी बन सकती है न कि व्यक्तिगत सह संयोजन के प्रभाव से। ये सभी साहित्य समीक्षा में स्वतन्त्र सत्ता के समीक्षक हैं, यद्यपि प्रतिबद्धता का प्रश्न उनके मन में बना ही रहता है। कला की स्वायत्तता वस्तुनिष्ठता से जोड़कर उन्होंने व्यक्तिवादी या सुखवादी समीक्षा को पुरातनवादी और बुर्जुआ कहा है। जनवादी समीक्षा उनकी दृष्टि से सृजनात्मक प्रक्रिया का विशेष पथ है।

मनुष्य के सौन्दर्य विषयक विचार उसके समूचे सामाजिक जीवन, उसकी जीवन प्रकृति, ऐतिहासिक परिस्थितियों, समाज के वर्ग संरचना और राष्ट्रीय परम्पराओं से निर्मित होते हैं। राजकुमार सैनी जनवादी कथाकार हैं उन्होंने आलोच्य लेखों में भी जनवादी सौन्दर्य बोध को युगानुरूप व्यक्त किया है। वस्तुगत सौन्दर्य ऐतिहासिक, सामाजिक आधार से मानव मन को उद्वेलित करता है। साहित्य की कृतियों में अभिव्यक्त सौन्दर्याभिरूचियों का ऐतिहासिक सामाजिक आधार रहता है। सैनी ने अपने सौन्दर्यबोधीय लेख में लिखा है कि साहित्य में इसी तरह वर्गीय सौन्दर्यभिरूचि काम करती है। यह सौन्दर्याभिरूचि विषयों के चुनाव से लेकर बिम्ब प्रतीक व कथन भंगिमाओं तक के चुनाव में काम करती है।[1]

सामन्ती सौन्दर्याभिरूचि से परिचालित साहित्य उन सभी शक्तियों को असुन्दर तथा गर्हित बिम्बों द्वारा चित्रित करता है जिसके जनवादी विरोध है।

---

[1] वाम अंक–4

बिहारी के लिए इत्र की सराहना न करने वाला गंवार ही होगा। सामन्ती सम्बन्ध को व्याख्यायित करने वाला साहित्य भले ही जायसी द्वारा लिखा गया हो, उसमें शेरशाह सूरी की सुन्दरता का प्रतिमान होगा। समाजवादी कबीर में शोषक शासक वर्गो से संघर्ष करती हुई सौन्दर्याभिरूचि रखते हैं, यह उनका प्रतिमान हैं अस्तु एक ओर भाववादी, व्यक्तिवादी विचारधारायें अनेक शक्लों में सौन्दर्य की अवधारणा को एकांगी रूप में व्याख्यायित कर रही है और दूसरी ओर सर्वाधिक विकसित वैज्ञानिक विश्व दृष्टि मार्क्सवाद, लेनिनवाद के अनुसार जीवन जगत के हर क्षेत्र को देखा जा रहा है।

जनवादी आन्दोलन को नये मार्ग में प्रशस्त करने में सर्वाधिक श्रेय युवा उत्साही सुधीश पचौरी की है जिन्होंने निराला, प्रेमचन्द और मुक्तिबोध को जनवादी समीक्षा के तहत वैचारिक क्रान्ति दर्शिता से आपूरित किया है। उनका मत है कि जनवादी आन्दोलन के आरम्भ में मुक्तिबोध को जिस रूप में खोजा गया उसके बाद से आज तक अनेक लोगों के लिए मुक्तिबोध का इस्तेमाल इतना आसान बन गया है कि ऐसी चर्चाओं में मुक्तिबोध अपनी मुक्तिबोधीयता ही खो बैठा।[1] मुक्तिबोध की कविता का जो केन्द्रीय वाचक या नायक है उसके अपने निजी जीवनानुभवों और इसके बीच जो पाया है वह एकहरी नहीं है बल्कि बहुत जटिल और आत्मगत है। पचौरी का कहना है कि बहुत से लोग इस आत्मगत संरचना को व्यक्तिवादी स्कूल से जोड़ लेते हैं बल्कि उनकी कृतियों में

---

[1] उत्तर गाथा, दिसम्बर 1983

भौतिक पराजय का जीवन निहित होता है उसमें एक नवीन सांस्कृतिक एवं राजनैतिक चेतना उद्‌भूत हो चुकी है जिसमें रचनाकार का व्यक्तित्व जनवादी चेतना से ओत–प्रोत होकर सामने आता है। जनवादी समीक्षा के दौर में मुंशी प्रेमचन्द, निराला, मुक्तिबोध आदि पर ढेर सारी समीक्षा चल रहीं हैं लेकिन उसमें वैयक्तिक प्रभाव की भरमार दिखायी पड़ती है जो गलत है। निःसंदेह जनवादी समीक्षा कर्म कला की स्वायत्तता और कलाकार की स्वतन्त्रता के लिए है जिसने समीक्षा पद्धति के खोखलेपन को उजागर किया है। पचौरी जी के अनुसार कहा जा सकता है कि जनवादी लेखक प्रायः मध्य वर्गीय व्यक्तित्व से जुड़े हुए हैं।

साहित्य के कथ्य और शिल्प के माध्यम से यह भलीभांति पहचाना जा सकता है कि आधुनिक सांस्कृतिक चेतना से स्फूर्ति पाकर ही साहित्य का सृजन हो रहा है। राजनीति तथा अर्थव्यवस्था जहां हमारे साहित्य को अप्रत्यक्ष रूप से प्रभावित करते हैं वहां सांस्कृतिक जागरण साहित्य में अधिक स्पष्ट रूप से प्रतिबिम्बित होता है। स्वतन्त्रत चेता डॉ0 पचौरी समीक्षक, संस्कृति परम्पराओं का अध्ययन करने के उपरान्त इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि विचारधारा संस्कृति से निर्मित होती है और उसका सीधा सम्बन्ध मानस भूमि से होता है।[1] राजनैतिक पराभव और आर्थिक शोषण व्यवस्था के प्रति जिम्मेदार है। भारत में इस नयी चेतना का उन्मेष भौतिक धरातल पर युगचेता मनीषियों ने किया है। साहित्यकार

---

[1] पहल अंक–7, 1982

मध्यवर्गीय विचार धारणा को अपनी संरचना में आत्मसात करता हुआ निर्माण और विस्तार काल में एक अभूतपूर्व तात्विक प्रक्रिया को एक अभूतपूर्व संयोजना देता है। व्यक्ति चेतना की विविध अनुभूतियों से प्रयुक्त इस युग की साहित्यिक मीमांसा जनवाद के हित में हुई है। वास्तव में इस युग का कवि और लेखक सामाजिक चेतना को अनुभूत कर चुका है। देश की युगीन भ्रांतियां भारत के जन मानस से टकरा रहीं हैं, जिससे युग के शिल्पी साहित्यकार अछूते नहीं रह सके।

साहित्यिक परम्पराओं एवं युग की सांस्कृतिक अनुभूतियों ने सामाजिक एवं राजनैतिक बदलाव प्रस्तुत कर दिया है। साठोत्तरीय भारत के जनमानस को हिल्लोलित करने वाली विचारणा का समर्थन पचौरी जैसे प्रबुद्ध समीक्षकों से मिलता है।

हर जीवन्त में विकास की प्रक्रिया छिपी रहती है। इस विकास में जहां एक ओर निषेध होता है वहां दूसरी ओर स्वीकृत भी साहित्य की जीवन विधाओं में विभिन्न विधाओं का इतिहास साक्षी हैं विमल वर्मा जैसा नवोदित समीक्षक निषेध प्रक्रिया को भी हितवादी सिद्ध करता है। उसका कथन है कि कला और साहित्य में निषेध एक महत्वपूर्ण भूमिका अदा करता है।[1] रचना प्रक्रिया और अर्थ प्रक्रिया दोनों ही निषेधवाची शब्द से जुड़े हुए हैं। समाज के विकास में भी निषेध शब्द का महत्व है। प्रतिबद्ध समीक्षा को सामाजिक विकास में निषेध के आधार पर गुणात्मक रूप मे जोड़ती है। रचनाकार सामाजिक

---

[1] समकालीन चिन्तन–सम्पादकीय भूमिका

विकास के धरातल पर अपनी रचना प्रक्रिया में अनुभूत यथार्थ और आरोपित विचार दोनों को ही मिलाजुला रूप देकर प्रस्तुत कर देता है। प्रतिबद्ध समीक्षा गति के भीतर इन दो विरोधी विचारों की मात्रात्मक स्थिति का पता लगा लेती है। इसी से उस कृति की गुणात्मक स्थिति का निर्णय होता है। कृति अपने अन्तःसम्बन्धों और अन्तः क्रियाओं के माध्यम से कवि की चेतना समाज, प्रकृति आदि से जुड़ी रहती हैं, इसलिए उसकी सत्ता काल सापेक्ष है, युग सापेक्ष है, समाज सापेक्ष है और विश्व क्रान्ति सापेक्ष है। क्योंकि साहित्य रचने वाला सामाजिक प्राणी है। जन्म से गुफा गेह में रहने वाला कोई प्राणी नहीं हो सकता है इसीलिए कृति किसी न किसी सामाजिक सौन्दर्यपरक मानव मन की भाव विचार की अभिव्यक्ति होती है और उसके अन्तः सम्बन्ध वर्ग समाज में सन्निहित रहते हैं। विमल वर्मा ने इस समीक्षा दृष्टि की पहचान की है।

समाज में सांस्कृतिक परम्परायें होती हैं और उसी में मानव समाज का अपना सामाजिक इतिहास होता है। कार्ल मार्क्स ने इन तमाम विकसनशील परम्पराओं में जगत का आधार पदार्थ ठहराया है। इस पदार्थवादी समाज और असीमता को अवधारित करने वाली सांस्कृतिक चेतना के प्रति रमेश उपाध्याय ने प्रतिबद्धतावादी विचारणा को ही स्वीकार किया है। उनका मन्तव्य है कि शोषण को दूर करने के जो उपाय हो सकते हैं संस्कृति के विकास और विनाश के जो

कारण हो सकते हैं उसे कार्ल मार्क्स ने सर्वहारा के संगठन की व्याख्या करते हुए समझाया है।[1]

प्रतिबद्ध लेखकों का समस्याओं के प्रति दृष्टिकोण क्रान्तिकारी है। वे आर्थिक गहराईयों में पहुंचकर मार्क्स की अर्थ सम्बन्धी मान्यताओं को पूर्णरूपेण आत्मसात कर लेना चाहते हैं। अधुनातन साहित्य, सामाजिक यथार्थवाद से इसलिए जुड़ रहा है कि उसमें सिद्धान्तों की प्रतिमूर्ति मात्र धोखे का नारा बन गया है। मनुष्य नियम कानून और सिद्धान्त से बढ़कर उसकी अपनी सामाजिक सच्चाई है। उसकी यथार्थवादी विचारणा है। अतः लोकहित को सर्वाधिक महत्व देकर उपाध्याय ने उन्हीं तत्वों और अनुभूतियों को मान्य समझा है जिनका समाज के हित में अधिक विश्वास है। जनमानस आज जीवन के यथार्थ को उकेर कर नयी भाव भूमि के साथ जीना चाहता है। क्रान्ति के सूत्र आज ऊर्जा विहीन होकर सिद्धान्त के अनुगामी बन गये हैं। इस तथ्य पर भी उपाध्याय ने अपना रोष प्रकट किया है।

साठोत्तरी जनवादी आलोचकों का दृष्टिकोण वैज्ञानिक सार्वजनिक तथा समाजवादी है। जहां तक कलात्मक मानदण्ड का प्रश्न है वह भी समाज पर पड़ने वाले प्रभाव पर आधारित है। उन्होंने उसकी कलाकृति को कलात्मक दृष्टि से सुन्दर माना है जिसमें सामाजिक प्रभाव उत्पन्न करने की क्षमता हो। वर्गीकृत समाज का प्रत्येक वर्ग अपना–अपना मानदण्ड रखता है किन्तु कलात्मक

---

[1] समकालीन चिन्तन, पृ0 76

राजनैतिक मानदण्ड का स्थान अधिक महत्वपूर्ण है। इसीलिए वे राजनीति के बदलते परिवेश को भी छू सके।

साहित्य में प्रदर्शित जीवन मानव के उन सूत्रों को जोड़ता है जो सर्वभूत मय है, साहित्य का सम्बन्ध सामान्य जन जीवन से होना चाहिए जिससे वह यथार्थ के अधिक निकट पहुंचकर अधिक सार्वभौमिक विशेषताओं से मुक्त हो सके। क्रान्तिकारी को कला और साहित्य को सभी प्रकार के चरित्रों की यथार्थ जीवन से ग्रहण करना चाहिए जिससे जनता आगे का इतिहास बनाने में उसकी सहायता ले सके। साहित्य सर्वहारा वर्ग के लिए उपयोगी हो यह दृष्टि इन समीक्षकों को मान्य है। जनता के सामान्य स्तर को आगे बढ़ाना और द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी विचारणा के तहत आर्थिक उन्मेष को संतुलित बनाना भी इन विचारकों का ध्येय है। सच्चा मानव प्रेम तब तक विकसित नहीं हो सकता जब तक कि वर्गहीन समाज व्यवस्था नहीं हो जाती है और तभी सच्चा साहित्य सृजित हो सकेगा। जनवादी समाजशास्त्रीय आलोचकों ने समाज और व्यक्ति की बुराईयों को इसलिए उभारा है, जिससे शोषक दमित होकर नवीन समाज के निर्माण में हर व्यक्ति को अवसर दें। उन्होंने कोरे आशावाद, सिद्धान्तवाद और ख्याली–पुलाव तथा जन निरपेक्ष का विरोध किया है। वे युग के यथार्थ रूप को अभिनव आयामों में देखने के पक्षपाती हैं और अभिव्यक्त पक्ष में नवीन प्रयोगों के समर्थक हैं।

* * *

चतुर्थ अध्याय

समाजशास्त्रीय हिन्दी समीक्षक
(डॉ० रामविलास शर्मा)

(क) समीक्षा साहित्य :

कार्लमार्क्स के सिद्धान्तों का गहन अध्ययन करके डॉ0 रामविलास शर्मा ने जहां एक ओर उनकी विशेषता की, वहां दूसरी ओर अपनी आलोचना में उनका प्रयोग भी किया है। मार्क्स के द्वन्द्ववाद को स्वीकार कर उन्होंने विरोधों की अन्विति को विकास का कारण माना है। मार्क्स की मुख्य–मुख्य विशेषताओं का विश्लेषण उन्होंने अपनी समीक्षा साहित्य में अनुशीलित करते हुए सिद्धान्त एवं परीक्षित पक्ष को सर्वहारा वर्ग से जोड़ दिया है। उनकी प्रमुख समीक्षा कृतियाँ अधोलिखित रूप में विवेचित की गयी है।

मार्क्सवाद के द्वन्द्वात्मक भौतिक जगत को डॉ0 शर्मा ने परिपार्श्व बनाकर हिन्दी में समाजशास्त्रीय समीक्षा को रूप दिया है। प्रस्तुत ग्रंथ समीक्षात्मक लेखों का एक विशिष्ट संग्रह है, जिसमें साहित्य शास्त्रीय प्रगति और अतीत–जीवी परम्परा को मूल्यांकित किया गया है। उन्होंने बताया है कि ऐतिहासिक भौतिकवाद का सिद्धान्त इस प्रकार समाज के विकास की कहानी कहता है जिसका इतिहास की परम्परा और आर्थिक सम्बन्धों तथा उत्पादनों में गहरा सम्बन्ध है।[1] आर्थिक सम्बन्धों के आधार पर ही मनोभावों, आकांक्षाओं का

---

[1] प्रगति और परम्परा, पृ0 39

ढांचा खड़ा होता है। साहित्यकार व्यक्ति है पर मुखापेक्षी है। सृष्टि में नितान्त स्वाभाविक आवश्यकताओं पर आधारित है, उसे अर्थ सम्बन्ध पर निर्भर होकर अपने वर्तमान जीवन को भोगना पड़ता है।

डॉ0 शर्मा ने कम्युनिष्ट घोषणा पत्र का जिक्र करते हुए प्रस्तुत ग्रंथ में वर्ग संघर्ष के सिद्धान्त का विवेचन किया है जिसमें शोषण की पद्धति स्पष्ट रूप से व्याख्यायित की गयी है। इतिहास क्रम का विकास दिखाकर वह पूंजीवादी समाज व्यवस्था को विश्लेषित करते हैं तथा घोषणा करते हैं कि मजदूर ही वास्तविक क्रान्तिकारी हो सकता है। वह किसानों को सहकारी प्रक्रिया में विश्वास दिला सकता है।[1] वर्ग विभाजित समाज में जिस कला और साहित्य का सृजन होगा वह संरचना वर्गवादी होगी। सच्ची कला तभी उत्पन्न होगी जब साम्यवादी समाज बन जायेगा। जब तक यह स्थिति उपलब्ध नहीं होती तब तक साहित्य और कला इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए अस्थि मात्र है। प्रस्तुत समीक्षात्मक ग्रंथ में मार्मिक विकास को प्रगति मूलक सिद्ध करते हुए डॉ0 शर्मा ने अतीत जीवी प्रतिमानोन्मुखी सहचरी प्रक्रिया को वर्तमान में नया रूप दिया है। उनका मन्तव्य है कि ''साहित्य का उद्देश्य थोड़े से गिने चुने सम्पत्तिशाली लोगों का मनोरंजन करना नहीं होना चाहिए। बल्कि उस जनता के आर्थिक और राजनैतिक संघर्ष से उसे नाता जोड़ना चाहिए जो नये समाज का निर्माण करने

---

[1] प्रगति और परम्परा, पृ0 39

की क्षमता रखती है और पुरानी व्यवस्था के उत्पीड़न को खत्म करने को लड़ रही है।[1] डॉ0 शर्मा पुरातन धरातल पर क्रान्ति के अधुनातन बीज उत्पन्न्न करने में प्रस्तुत कृति के अन्तर्गत सफलीभूत हुए हैं। प्रस्तुत कृति में उनका वैचारिक धरातल पुष्ट और सप्रमाण है। समीक्षात्मक लेखों का यह प्रयास समाजशास्त्रीय समीक्षा के प्रति स्तुत्य है।

प्रस्तुत आलोच्य ग्रंथ में प्रगतिशील साहित्य की समस्याओं पर डॉ0 शर्मा ने प्रकाश डाला है। वह साहित्य में अश्लीलता, निराशावाद एवं प्रयोगवादी मान्यताओं के कट्टर विरोधी हैं। क्योंकि वे व्यक्ति और समाज के यथार्थ सम्बन्धों पर पर्दा डालते हैं। शोषण को स्पष्ट होने से बलपूर्वक रोकते हैं और सर्वहारा को क्रान्ति की ओर उन्मुख करते हैं। उन्होंने प्रगतिवादी साहित्य को जनता की तरफदारी करने वाला साहित्य कहा है।[2] वस्तुतः प्रगतिशील साहित्य बाहर से थोपा हुआ साहित्य नहीं है, वह आन्दोलित परिवेश की देन है जिसका अर्थ समाजशास्त्रीय चिन्तन से जुड़ा हुआ है। ऐसे साहित्य का विरोध करने के लिए प्रयोगवाद आदि को डॉ0 शर्मा ने धिक्कारा है और लिखा है ''साहित्य में अश्लीलता, निराशावाद तथा कथित प्रयोग घटिया और कुघड़ साहित्य अपनी परम्परा से विलग अंग्रेजी के निम्न साहित्य की छिछली नकल साम्प्रदायिकता आदि की प्रवृत्तियां आदि वर्तमान है। साहित्य का सर्वांगीण विकास की समस्या हमारे सामने है। ऐसा साहित्य जो हमारे राष्ट्रीय गौरव के अनुरूप हो और उसे

---

1 प्रगति और परम्परा, पृ0 41
2 प्रगतिशील साहित्य की समस्यायें, पृ0 25

हम वास्तव में जनता का साहित्य कह सकें या इन सब बातों से एक शक्तिशाली साहित्यिक आन्दोलन की आवश्यकता सिद्ध होती है।[1]

डॉ0 शर्मा ने प्रस्तुत ग्रंथ में जहां एक ओर प्रगतिशील साहित्य की समस्याओं पर प्रकाश डाला है वहां दूसरी ओर समाजशास्त्रीय अन्य आलोचकों के प्रति भी तीखी आलोचना की है। वह शिवदान सिंह चौहान की तरह प्रगतिशील साहित्यकारों को छूट देने के लिए तैयार नहीं हैं। वे मार्क्सवादी भले ही न हों किन्तु उनकी साहित्योपलब्धि उन विशेषताओं से युक्त हो जो प्रगतिशीलता के लिए आवश्यक है। डॉ0 शर्मा ऐसे प्रगतिशील समीक्षकों को समाजशास्त्रीय परिधि में लेने को तैयार हैं। उन्होंने स्पष्ट कर दिया है कि बिना कार्लमार्क्स को समझे प्रगतिशील साहित्य की समस्या का समाधान नहीं हो सकता। उन्होंने लिखा है कि मार्क्सवाद समाज को समझने और उसे बदलने का विज्ञान है जो वर्तमान व्यवस्था को बदलना चाहता है। वह मार्क्सवाद का अध्ययन किये बिना नहीं रह सकता। मार्क्सवाद भारतीय समाज को समझने के लिए एक दृष्टिकोण देता है। उस दृष्टिकोण का उपयोग करके हम कौन सा कार्यक्रम निश्चित करते हैं और उस कार्यक्रम को व्यवहार में लाने के लिए कौन सी नीति अपनाते हैं इसका कोई निर्धारित सूत्र मार्क्सवादी की किसी पोथी में नहीं है। मार्क्सवाद से प्रभावित होने का अर्थ यह नहीं कि हम साहित्य को किसी

---

[1] प्रगतिशलील साहित्य की समस्यायें, पृ0 752

राजनैतिक कार्यक्रम से बांध देते हैं वरन् उससे प्रभावित होने का अर्थ समाज और साहित्य की गतिविधि के प्रति वैज्ञानिक दृष्टिकोण अपनाना है।[1]

डॉ0 शर्मा प्रस्तुत कृति में मार्क्सवादीय धारणा का उल्लेख स्पष्ट रूप से करते हैं उन्होंने साहित्य को कथ्य और शिल्प में जनवादी जागरूकता की पहचान अनिवार्य बताई है। उन्होंने स्पष्ट कर दिया है कि समाजवाद की जड़ें आर्थिक धरातल में निहित तत्वों पर टिकी हुई हैं। मार्क्सवादी चिन्तन का यह अनूठा भावविलक्षणता के साथ उनके इस आलोच्य ग्रंथ में अवतरित हुआ है। जनवाद के दृष्टिकोण का यथार्थपरक रूप प्रस्तुत ग्रंथ में संजोया गया है। साहित्यकाल सापेक्षता की परिधि में परिवर्तनशील रहता है। इस तथ्य पर भी डॉ0 शर्मा ने गहराई से विचार किया है।

डॉ0 शर्मा कृति प्रस्तुत ग्रंथ हिन्दी समीक्षा साहित्य के लिए एक उपजीव्य निधि है। उन्होंने मुंशी प्रेमचन्द को दलित पीड़ित वंचित तथा शोषित का रक्षक बताया है।[2] समाज में न्याय और सौन्दर्य के प्रति मुंशी प्रेमचन्द का सदैव ध्यान रहा है। इस अवधारणा की पुष्टि डॉ0 शर्मा सप्रमाण करते हैं। मुंशी जी एक यथार्थवादी कलाकार रहे हैं। मजदूर वर्ग के हिमायती के रूप में अपने कथा साहित्य को समाजशास्त्रीय रूप दिया है। डॉ0 शर्मा मुंशी प्रेमचन्द के अक्खड़ साहित्यिक स्वभाव को समीक्षात्मक लेखों में वर्णित करते हैं। मुंशी प्रेमचन्द का युग निःसंदेह समन्वय का युग रहा है। इसमें विचार दर्शन और

---

[1] प्रगतिशील साहित्य की समस्यायें, पृ0 140

[2] प्रेमचन्द और उनका युग, पृ0 254

जीवन दर्शन की परिकल्पनायें एक ओर भाववादी सौन्दर्य सम्बेदन को ढूंढ़ रही हैं, तो दूसरी ओर वस्तुवादी रूप सौन्दर्य को अवधारित करने में सफलीभूत हो रही हैं। ऐसे विचार द्वन्द्व के प्रतीक मुंशी प्रेमचन्द डॉ0 शर्मा को मान्य हैं। मुंशी जी ने कला को उपयोगितावाद की कसौटी पर कसा है तथा मानवतावाद के सानुपातिक दृष्टिकोण में धर्म, दर्शन, नीति का सांगोपांग विवेचन उन्होंने किया है। मुंशी प्रेमचन्द की प्रगतिशीलता और जनवादी विचारणा का उन्होंने अध्ययन करते हुए मार्क्सवादी अवधारणा का मुंशी प्रेमचन्द को पर्याय माना है। डॉ0 शर्मा का मत है कि मुंशी प्रेमचन्द ने साहित्य को जनजीवन की यथार्थ भूमि पर लाकर खड़ा कर दिया है।[1]

सचमुच मुंशी जी के कथा साहित्य के कथ्य में एक ओर बुनियादी रूपरेखा है तो दूसरी ओर शिल्प में सरलीकृत गठनशीलता है। प्रत्येक युग की प्रगतिशील भावना जिस वर्ग, व्यक्ति विशेष का आश्रय लेकर विकासोन्मुख होती है उसे युग का प्रतिनिधि या नेता कहा जाता है। भारतेन्दु इस श्रेणी के जीवन को स्थापित करने वाले हैं। डॉ0 शर्मा ने कहा है कि इस नयी चेतना को स्थापित करने के लिए श्रृंगार और नीति की घिसीपिटी परिपाटी से कविता को मुक्त कराना आवश्यक था। अतः भारतेन्दु युग रीतिकालीन मनोवृत्ति के विरूद्ध झन्डा उठाकर चला था।[2] भारतेन्दु युग में समस्याओं के प्रति कुछ प्रगतिशील समीक्षकों को धारणायें मार्क्सवादी धारणाओं की ओर जाती हुई दिखाई देती है।

---

[1] प्रेमचन्द और उनका युग, पृ0 56

[2] भारतेन्दु युग, पृ0 5

अतः यहां उन पर भी विचार करना असंगत न होगा। उनमें से एक समस्या है कि इस युग में अंग्रेजों ने समचेतना और संस्कृति को विकसित करने में योग नहीं दिया है। डॉ0 शर्मा ने अंग्रेजों के साम्राज्यवाद को प्रगतिशीलता के विरूद्ध एक अड़चन बताया था।[1] अंग्रेजी राज्य में मुसलमानी अत्याचार तो कम हुए लेकिन देश को खोखना बनाने में उन्होंने कुछ कसर न छोड़ी किस समय के लोगों की क्या दशा थी उसके भीतरी पक्ष पर डॉ0 शर्मा की दृष्टि गयी है। इस युग में स्वायत्य शासन का अभाव खटकता रहा था। भारतेन्दु के पत्रों के कुछ उदाहरण प्रस्तुत कृति में दिये हैं। डॉ0 शर्मा युगीन परिवेश को स्पष्ट करते हुए लिखते हैं कि इस युग के समीक्षकों ने अपना साहित्य सामान्य जनता तक पहुंचाने के उद्देश्य से जनभाषा को अभिव्यक्ति का साधन बनाया। वह अपने को सामान्य जनता के साथ रखते थे। इसलिए जनभाषा को निज भाषा कहा है तथा उसे सभी प्रकार की उन्नति का आधार माना है।[2] भारतेन्दु की भाषा सम्बन्धी प्रगतिशीलता के बारे में भी डॉ0 शर्मा ने लिखा है कि जीवन और साहित्य के समान भाषा को परिवर्तनशील उन्होंने माना है। उसे रूढ़ियों व्याकरण के नियमों आदि से मुक्त रखना ही उचित समझा और वह भाषा को सरल सुबोध स्वाभाविक एवं गहरे व्यंजना वाले जन शब्दों से उपयुक्त देखना चाहते थे। हिन्दी में अन्य भाषा के शब्दों का प्रयोग इस युग में खुलकर हुआ।

---

[1] भारतेन्दु युग, पृ0 5
[2] भारतेन्दु युग, पृ0 160

भारतेन्दु युग के विषय में डॉ0 शर्मा ने बताया कि इस नये—नये विषयों पर प्रथम बार लेखनी उठाई जा रही थी। नव—विकसित खड़ी बोली ने सभी प्रकार के भावों को सफलता पूर्वक अभिव्यक्त करने की क्षमता का अभाव था। अतः वह युग की मांग थी कि हिन्दी का शब्द भण्डार शीघ्रातिशीघ्र सम्पन्न करने के लिए विदेशी भाषाओं मुख्यतः अंग्रेजी से शब्द लिए जायें। जनभाषायें हिन्दी की रक्षा तथा प्रसार करने के लिए भारतेन्दु ने अपने अन्तिम—काल में अपनी रचनाओं में ब्रज भाषा को त्याग दिया तथा खड़ी बोली में रचनाओं का आरम्भ कर दिया था। डॉ0 शर्मा ने प्रताप नारायण मिश्र के उत्तर का हवाला देते हुए उसके उत्तर में लिखा है "क्षमा करें। हम खड़ी बोली के विरोधी होते तो हांनि पर हांनि सहकर (ब्राह्मण) का सम्पादन क्यों करते"।[1] इस विवेचन से यह स्पष्ट है कि भारतेन्दु युग को डॉ0 शर्मा ने भलीभांति विवेचित किया है और भारतेन्दु की भाषा सम्बन्धी मान्यताओं को प्रगतिशीलता के साथ जोड़ा है।

डॉ0 शर्मा की प्रस्तुत कृति प्रगतिशील तत्वों से समन्वित एक ऐसी कृति है जिसमें भाषा संस्कृति और साहित्य का क्रमागत परम्परा में विश्लेषण किया गया है। सच्चे यथार्थवादी की भांति उन्होंने भाषा के अभिव्यक्ति पक्ष को समुचित महत्व दिया और उसमें कला पक्ष एवं भाव पक्ष के समन्वय को यथार्थवादी साहित्य का आधार बताया। जब कथ्य प्रगतिशील होता है तो उसकी सफल अभिव्यक्ति के लिए कला पक्ष में उसी के अनुरूप प्रगतिशील भाव तत्व हो जाता है। अनेक उदाहरण देकर वह इस मान्यता की पुष्टि करते हुए डॉ0 शर्मा

[1] भारतेन्दु युग, पृ0 160

कहते हैं कि साहित्य में विषय और व्यंजना दोनों एक–दूसरे के आश्रय हैं। सफल साहित्य रचना में विषय और व्यंजना का सामन्जस्य होता है। एक प्रतिक्रियात्मक हो तो दूसरा प्रगतिशील नहीं हो सकता। व्यंजना साहित्य की श्रेणियों के अनुसार अनेक प्रकार की होंती हैं। दरबारी कवियों की उचित चातुरी, संत कवियों की सरल वाणी, रोमान्टिक कवियों की दुरूह शब्द विन्यास आदि कुछ मोटे उदाहरण यह सिद्ध करते हैं कि भाव के साथ शैली में भी परिवर्तन होता है। इसलिए विषय वस्तु के निरूपण के साथ व्यंजना और कला के सम्बन्ध में यह याद रखना चाहिए कि वह चिरंतन नहीं है। वरन् लेखक की प्रतिभा अथवा युग की प्रवृत्ति के अनुसार प्रतिक्रियावादी या प्रगतिशील हो सकते हैं।[1]

डॉ0 शर्मा प्रस्तुत ग्रंथ में संस्कृति और साहित्य के प्रारूप पर प्रगतिशीलता के बिन्दुओं को परिलक्षित करते हैं। साहित्य में इतिहास परम्परा, दर्शन सांस्कृतिक परिपार्श्व में ही पल्लिवित रहते हैं। ऐसा स्पष्ट करते हुए डॉ0 शर्मा जनवाद के सौन्दर्य बोध को वस्तुसत्ता के निकट ले जाते हैं। प्रस्तुत ग्रंथ में उनकी दृष्टि पकड़, समझ तथा अनुभूतिशीलता से युक्त हैं।

डॉ0 शर्मा ने प्रस्तुत कृति में भारत की स्वाधीनता और राष्ट्रीय साहित्य का सांगोपांग विवेचन किया है। उन्होंने इसमे प्रतिक्रियावादी और प्रकृतिवादी विशेषताओं का अलग–अलग उल्लेख किया है। उनका कथन है कि पूंजीवादी साहित्य में जनता को भय, भविष्य के प्रति निराशा, कुढ़न और खीझ,

---

[1] भाषा साहित्य और संस्कृति, पृ0 208

मनुष्य से घृणा नयी समाजवादी संस्कृति को पूजना आदि माना जाता है तथा समाजवादी साहित्य की विशेषतायें देश–प्रेम संसार की जनता का भाई–चारा, भविष्य में आस्था, आशा, उल्लास आदि है।[1] जहां डा0 शर्मा का साहित्य विवेचन प्रगतिशील तत्वों के सदर्भ में हुआ है वहां उन्होंने मार्क्सवद से प्रभावित होने का अर्थ स्वतन्त्रता मान लिया है। वे अप्रगतिशील साहित्य को साहित्य नहीं मानते। साहित्य और जनजीवन को स्पष्ट करते हुए उन्होंने बताया है कि कला का श्रोत जनता है। जो साहित्य जनता से सम्बद्व होता है उसमें वे सभी विशेषताएं नहीं आ सकती जो साहित्य को प्रगतिशील बना सकतीं। उन्होंने इस संदर्भ को प्रस्तुत कृति में इस प्रकार दिया है "साहित्य जनता की वाणी है उसके जातीय चरित्र का विवरण है। प्रगति पथ में बढ़ने के लिए उसका मनोबल है। उसकी सौन्दर्य की चाह का पूर्ण करने वाला साधन है"।[2]

प्रगतिशीलता का संदर्भ यथार्थवादिता से है। डा0 शर्मा प्रगतिशील साहित्यकार को प्रजापति कहते हैं। ऐसा साहित्यकार समाज की वास्तविक स्थितियों का चित्रण करते हुए भी दृष्टि भविष्य पर लगाये रखता है। अर्थात् उसमें यथार्थ और आदर्श का समन्वय रहता है। डॉ0 शर्मा ने इस प्रकार के साहित्य को समाजवाद का बुनियादी साहित्य कहा है। उनका मन्तव्य है कि प्रजापति कवि गंभीर यथार्थवादी होता है। ऐसा यथार्थवादी जिसके पांव वर्तमान की धरती पर हों, आंखे भविष्य के क्षितिज पर लगी हों।[3] डॉ0 शर्मा की प्रस्तुत

---

[1] स्वाधीनता और राष्ट्रीय साहित्य, पृ0 130
[2] स्वाधीनता और राष्ट्रीय साहित्य, पृ0 243
[3] स्वाधीनता और राष्ट्रीय साहित्य, पृ0 78

कृति पूर्ण यथार्थवादी होकर गुजरी है। उन्होंने समाजवादी यथार्थवाद को भारत की स्वाधीनता और उससे उद्‌भूत साहित्य को प्रगतिशीलता की ओर उन्मुख करना चाहा है। कवि की अर्न्तमुखी चेतना बहिर्मुखी अवधारणा से सदैव सम्पृक्त बनी रहती है। इसीलिए डा0 शर्मा ने ऐसे कवि, लेखक समाजवादी को यथार्थवादी की संज्ञा से अभिहित किया है। यथार्थवादी होने के कारण वे साहित्य को उपयोगितावाद की तुला पर तौलते हैं। जो साहित्य मनुष्य को श्रेष्ठ विचार नहीं देता और उन विचारों को कार्यक्रम में परिणित करने की प्रेरणा देने का हमारे मनोबल को नहीं बढ़ाता वह व्यर्थ है। साहित्य, विज्ञान और दर्शन से आगे बढ़कर हमें अधिक संवेदनशील बनाता है तथा हमारे भाव जगत को विस्तृत करता है।

प्रस्तुत कृति के सोलह समीक्षात्मक लेखों में डा0 शर्मा ने हिन्दी समीक्षा के उत्तरदायित्व तथा जन आन्दोलन और बुद्धिजीवी वर्ग को समानधर्मी सिद्ध करते हुए युग की परिधि और साहित्य की व्यापकता पर प्रकाश डाला है। उनका मत है कि साहित्य के मूल्य स्थाई हैं। निर्पेक्ष रूप से नहीं सापेक्ष रूप से, देशकाल से परे नहीं, देश काल की सीमाओं में निरन्तर विकास करती हुई मानव जाति की समुचित सांस्कृतिक निधि के रूप में।[1] डॉ0 शर्मा ने मनुष्य के वस्तुगत समृद्ध विकास को प्रस्तुत कृति में भलीभांति अनुशीलित किया है।

[1] स्वाधीनता और राष्ट्रीय साहित्य, पृ0 23

मनुष्य का ऐन्द्रिय शोध उसके विकास का परिणाम है और जीवन की परिस्थितियाँ मनुष्य की सौन्दर्य वृत्ति को जहां एक ओर विकसित करती है वहां दूसरी ओर कुंठित भी करती है। डॉ0 शर्मा लोकजीवन के पक्षधर हैं। वह उसके सह अस्तित्व में विश्वास करने की प्रक्रिया पर बल देते हैं और गांधीवाद के सम्बन्ध में उनकी मान्यता साहित्य के स्तर की न होकर राजनीति स्तर की हो जाती है। उसे वह पूंजीपति वर्ग का सांस्कृतिक वर्ग मानते हैं। क्योंकि उसमें सक्रिय प्रतिरोध नहीं है।[1] डॉ0 शर्मा संघर्षशील आस्था के व्यक्ति हैं। उन्होंने प्रस्तुत कृति में लोकहितवादी दृष्टि को उभार कर संघर्ष की उत्क्रान्ति में खड़ा कर दिया है। उनका विश्वास सह अस्तित्व में नहीं है। उनकी आस्था केवल संघर्ष में है। किसी भी देश की राजनीति और संस्कृति आर्थिक व्यवस्था के आधार के बिना टिक नहीं सकती और जो लोग आर्थिकता से अछूता रहना चाहते हैं वे सांस्कृतिक विरासत को प्रगतिमूलक बना नहीं सकते।[2]

प्रस्तुत आलोच्य ग्रंथ में डॉ0 शर्मा ने बौद्धिक धरातल पर साहित्य का समाकलन किया है। उनका मत है कि साहित्य मनुष्य को श्रेष्ठ विचार ही नहीं देता वरन् वह उन्हें कार्य रूप में परिणित करने के लिए प्रेरणा भी देता है। वह हमारा मनोबल दृढ़ या क्षीण करता है, हमारा चरित्र बनाता है या बिगाड़ता है, वैज्ञानिक या दार्शनिक तर्क द्वारा हमें आश्वस्त भले कर दे या पराजित कर दे, उनके विचारों में श्रेष्ठ आस्था पैदा करना उन विचारों को आचरण में उतारने

[1] लोक जीवन और साहित्य, पृ0 45
[2] लोक जीवन और साहित्य, पृ0 69

के लिए दृढ़ संकल्प में उतारने के लिये दृढ़ संकल्प पैदा करना साहित्य का ही काम है। इसीलिए मानव चरित्र पर किसी जाति या राष्ट्र के चित्र पर मनुष्य के कर्ममय जीवन पर जितना प्रभाव साहित्य का पड़ता है, उतना दर्शन या विज्ञान का नहीं। साहित्य की यह सबसे बड़ी उपयोगिता है।[1]

डॉ0 शर्मा ने लोकजीवन्तता के लिए और साहित्य की उपयोगिता के लिए बुद्धिजीवी इतिहास के क्रम में श्रमजीवी मजदूर किसानों और स्वामी की आवश्यकता पर भी बल दिया है। प्रतिक्रियावादी हर समस्या को शांति से सुलझाने के पक्ष में है। डॉ0 शर्मा ने क्रान्ति से परिपूर्ण स्वर का संधान समस्या के सुलझाने में समुचित माना है इसलिए उन्होंने गांधीवादी टेढ़े–मेढ़े रास्ते को अपने साहित्य में अंगीकार नहीं किया। वे लोक जीवन्तता के ऐसे इतिहास को साहित्य में उतार देना चाहते हैं जो विरोधों और विरोधियों के प्रति उत्क्रान्ति का स्वर संधान कर सके। डॉ0 शर्मा ने इस दृष्टि से नारी समस्या का विचार प्रस्तुत ग्रंथ में किया है और वह नारी को क्रान्तिकारी आन्दोलन में सक्रिय भाग लेने के लिए सादर आमन्त्रित करते हैं।[2]

डॉ0 शर्मा का प्रस्तुत कृति में आलोचनात्मक लेखन मार्क्सवादी अवधारणा को समेटे हुये है। इसीलिये उनकी समग्र लेखन शक्ति में राजनीति की धुरी घूमती हुई दृष्टिगोचर होती है। प्रस्तुत कृति का एक छोर लोकजीवन की महत्ता पर प्रकाश डालता है तो दूसरा छोर साहित्य की गहरी संवेदना को

---

[1] लोक जीवन और साहित्य, पृ. 11
[2] लोक जीवन और साहित्य, पृ0 97

उकेरकर लोकजीवन के पास लाकर खड़ा कर देता है। साहित्य का सौन्दर्य लोकजीवन के सौन्दय सम्बन्ध के प्रवलता से आपूरित है। इस दृष्टि पर डॉ0 शर्मा सप्रमाण विचार किया है।

डॉ0 शर्मा मार्क्स की मान्यता को एक ओर पूंजीवादी व्यवस्था के विरोध, उसके शोषण, उत्पीड़न एवं मानवीय व्यवहार के तिरस्कार के सम्बन्ध में विवेचित करते हैं तो दूसरी ओर भाषायी समस्या को लेकर वे क्रान्ति का अग्रदूत बनकर प्रस्तुत होते हैं। डॉ0 शर्मा भाषा की समस्या के परिपार्श्व में राजनीति का दुर्विनीति आचरण अस्वीकार करते हैं। वे अभिनव समाज रचना के पक्षपाती होकर राष्ट्रभाषा की एकरूपता के भी अनुमोदक है।[1] राष्ट्रभाषा में जातीय संस्कृति और जनवादी अधिकार राष्ट्रीय गौरव के साथ जुड़े रहते हैं। हिन्दी की राष्ट्रीयता देश की विभिन्न सामाजिक परिस्थितियों में भी मान्य हैं। गत्यात्मकता का मूल नियम है कि परिवर्तनशीलता होने के बावजूद भी भाषा और संस्कृति की प्रतिबद्धता अनिवार्य बनी रहे। प्रगतिशील साहित्य कों राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय तत्वों के विकास को भाषा संस्कृति के आधार पर अवधारित किया जा सकता है। भाषा की एकता के परिणामस्वरूप विश्व बन्धुत्व की कल्पना साकार हो उठती है और क्रान्ति का उद्बोधन राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय जनवादी शक्तियों को एक मंच पर लाकर खड़ा कर देता है। साहित्य और विचारधारा का अन्तः सम्बन्ध भाषायी

---

[1] राष्ट्रभाषा की समस्या, पृ0 30

आदान प्रदान से जुड़ा हुआ है। युग सत्य के आधार पर साहित्य में जनवादी शक्तियों का प्रमुख अधिकार भाषा हो सकती है, भाषायी समृद्धता, देशप्रेम, भाईचारा, आशा, उल्लास के स्वाभाविक भावों से जुड़ी रहती है। विचारों का विनिमय और भावनाओं का नियमन तथा क्रान्ति का उद्‌बोधन राष्ट्रभाषा के नाम रूपों में समाहित होता है।

भारतीय चिन्ताधारा की एकात्मकता की चर्चा प्रस्तुत ग्रंथ में हुई है। डॉ0 शर्मा का यह वस्तुनिष्ठ विश्लेषण हिन्दी के विराट तत्व का प्रतीक है जो भाषा और संस्कृति से सम्बन्धित प्रारूप चिन्ता धाराओं को एकरूपता प्रदान करता है। जिससे संस्कृति और भाषा अमरत्व और श्रेष्ठ तत्व से परिपूर्ण हो जाती है। प्रस्तुत ग्रंथ में वह उन प्रगतिशील लेखकों की आलोचना करते हैं। जो हिन्दी साहित्य में बहुमुखी प्रकृति और संस्कृति के उन्नायक हैं। डॉ0 शर्मा आलोचना में केवल तथ्य को महत्व देते हैं। उन्होंने इस प्रकार अति व्यक्तिवादी अनुभूतियों को विकृत कला के द्वारा साकार करने वाले प्रयोगवादियों को ही लताड़ा है।[1] कला को ही मुख्यता प्रदान करने वाले कलाकृतियों को असन्तुलित बना देते है। ऐसा उनका विचार है। इस प्रकार की कला अराजकतावादी बन जाती है। जिससे न आनन्द मिलता है और न समाज का ही हित होता है। प्रस्तुत ग्रंथ में उन्होंने अभिजात्यवादी और प्रयोगवादी तथा अश्लीलता से परिपूर्ण मनोविश्लेषणवादी कवि

---

[1] विराम चिन्ह, पृ0 230

लेखकों की खबर ली है। सच्चे यथार्थवादी की भांति वे अन्तर्मुखी अनुभूत्यात्मक सत्य को नकारते हैं। प्रगतिशील तत्वों की समन्वित रेखा को स्वीकार करते हुए उन्होंने यथार्थवादी यथार्थता से आंखें बन्द नहीं की हैं। प्रयोगवादियों पर कड़ा प्रहार करते हुए उनकी अति व्यक्तिवादी और परम्परावादी मान्यताओं को उन्होंने धिक्कारा है। वस्तुतः समाज के बहुसंख्यक लोग प्रयोग धर्मिता से न तो साहित्य का ही अन्वेषी रूप धारण कर सकते हैं और न समाज का ही। अभिव्यक्ति प्रथा की नगण्यता साहित्य को ऐसे स्तर पर लाकर खड़ा कर देती है, जहां लोकजीवन बहुत पीछे रह जाता है।

डॉ0 शर्मा ने छायावादी कवि निराला के व्यक्तित्व एवं कृतित्व पर प्रकाश डालते हुए प्रस्तुत कृति को प्रगतिशील जागरूकता से ओतप्रोत बना दिया है। कवि निराला एक ओर यथार्थवादी जीवन लेकर संरचना में उतरते हैं तो दूसरी ओर युग साहित्य को अपनी लेखनी में समाहित कर लेते हैं। निराला के सम्बन्ध में डॉ0 शर्मा का कथन है कि निराला के लिये फूल का खिलना संघर्ष की परिणति है।[1] साहित्यिक जीवन अभ्युदकाल में जब उन्होंने 'जुही की कली' लिखी थी, तब से अन्तिम प्रमाण बेला तक यह क्रम चलता रहा। उन्होंने बसन्त को उल्लास से और आनन्द से परिपूर्ण सिद्ध किया तथा उनकी क्रान्तिकारी विशेषतायें भी फूल बनकर विकसित हुई। निराला ने मृत्यु और विषाद पर बहुत सी कवितायें लिखीं हैं। डॉ0 शर्मा का मत है कि इन कविताओं में और पीड़ावादी

---

[1] कवि 'निराला', पृ0 19

कविताओं में बहुत फर्क है। वे कविता में भावों की गहराई को लेकर अवतरित होते हैं और त्वरित आवेग से संरचना को महत्व देते हैं। निराला का मन ग्लानि, पराजय, विक्षेप आदि से भर उठता है। उनकी रचनाओं में आकांक्षा पूर्ति के स्वप्न क्रमशः कम होते गये हैं। उन्होंने समाजवादी भावनाओं को अपनी कविताओं में स्थान दिया है। डॉ0 शर्मा क्रान्तिकारी आन्दोलन में सक्रिय होने वाला कवि निराला को ही मानते हैं। वह धर्म और ईश्वर को शोषकों द्वारा प्रयुक्त शोषणों की विधियां स्वीकार करते हैं।[1] यह आलोच्य ग्रन्थ निराला के सुदीर्घ कवि जीवन की सार्थकता का परिणाम है। कवि के सामाजिक और साहित्यिक विचारों का एक संग्रह–प्रधान ग्रंन्थ है। 'कवि' निराला के सच्चे आलोचक डॉ0 शर्मा प्रस्तुतिकृति में खूब गहन होकर अवतरित हुए हैं।

डॉ0 शर्मा ने निराला के साहित्यिक साधना के तीन खण्ड और निकाले हैं। उन्होंने निराला के अन्तर्द्वन्द्व पूर्ण जीवन को क्रमशः विवेचित किया है। निराला स्वयं अपनी मान्यताओं के कट्टर पंथी हैं। उन्होंने अपनी विचारधारा से परिवर्ती साहित्य को प्रभावित किया है। कला संस्कृति के गायक निराला साहित्य और दर्शन में भी निष्णात हैं। डॉ0 शर्मा ने उनकी जीवन की आस्था को संघर्षमय बताया है।[2] समाज के साथ ही साथ उस पर आधारित कला संस्कृति की विचारधारा भी पिघल जाती है। डॉ0 शर्मा ने साम्यवादी

---

[1] कवि 'निराला' पृ0 149
[2] निराला साहित्य साधना, प्रथम खण्ड, पृ0 60

विचारधारा की पीठिका पर साहित्य सृजेता कवि निराला की प्रस्तुत खण्डों में मूल्यांकित किया है।

हिन्दी साहित्य में शुक्ल जी का वही महत्व है जो उपन्यासकार प्रेमचन्द या कवि निराला का। शुक्ल जी ने मानव जगत और भौतिक जगत की वास्तविकता पर बहुत कुछ लिखा है। शुक्ल जी ने अपनी स्वतन्त्र चेता साहित्यिक विचारधारा को अपने साहित्य में उतारा है। इसलिए साहित्य का व्यापार जनवादी आन्दोलन के पास अधिक सटीक सिद्ध होता है। डॉ0 शर्मा ने प्रस्तुत कृति की भूमिका में अन्य प्रगतिशील समीक्षकों के मन्तव्य स्पष्ट करते हुए शुक्ल जी की तस्वीर को जनवादी सिद्ध करने में लिखा है कि शिवदान सिंह चौहान और नामवर सिंह शुक्ल जी पर एंकागी समाजशास्त्री होने का आरोप लगा चुके हैं। यदि इसी परम्परा का विकास कर रहे हों तो मैं नहीं जानता, लेकिन शुक्ल जी का एंकागी समाजशास्त्र से कोई सम्बन्ध नहीं हैं। यह मैने पुस्तक यथा प्रसंग लिख दी है।

किसी के परम्परा के विकास का दावा करने के पहले उसे समझ लेना भी जरूरी है।[1] शुक्ल जी के लिए प्रकृति गतिशील है। शक्ति और पदार्थ अन्योन्यश्रित है। पदार्थ भी शक्ति में परिवर्तित हो जाता है। प्रकृति इतनी ही विराट है उतनी ही सूक्ष्म। उसमें आकर्षण और आकर्षण जैसे परस्पर विरोधी शक्ति रूपों की एकता है। भौतिक जगत के प्रति यह वैज्ञानिक दृष्टिकोण शुक्ल

---

[1] आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और हिन्दी आलोचना, पृ0 9

जी के दार्शनिक चिन्तन का महत्वपूर्ण अंग है। शुक्ल जी ने प्रकृति को सूक्ष्मता का कलात्मक वर्णन किया है।

शुक्ल जी जनवादी अन्तःकरण का एक और प्रमाण है। धर्म संकट में पड़ने पर वह तुलसी का पक्ष छोड़कर स्त्रियों का ही पक्ष लेना अधिक उपयुक्त समझते हैं। स्त्रियों के लिए समान अधिकारों की घोषणा करते हुए शुक्ल जी देवी को यह भी सलाह देते हैं कि सन्यासी बना तो तुम भी अपनी बहनों को बैराग्य का उपदेश देते हुए पुरूषों को इसी प्रकार अपावन और सब अवगुणों की खान कह सकते हो। इस तर्क का आनन्द लेते हुए शुक्ल जी और आगे बढ़कर कहते हैं कि पुरूष पतंगों के लिए गोस्वामी जी ने स्त्रियों को जिस प्रकार दीपशिखा कहा है उसी प्रकार स्त्री पतंगियों के लिए वह पुरूष को भांड़ कहेगी।[1]

भाषा किसी समाज के व्यवहार का माध्यम होती है। उस समाज के सभी लोग चाहे उनका धर्म चाहे अलग–अलग हो, एक ही भाषा काम में लाते हैं। धर्म बदलने से या नये धर्म वालों के आ मिलने से भाषा नहीं बदल जाती। भाषाओं के मूल व्याकरण रूपों में कोई कहने लायक तब्दीली नहीं हुई। आक्रमणों से, आक्रान्त जातियों से भाषा के मौलिक रूपों में परिवर्तन नहीं होता। भारतीय काव्यशास्त्र के आधार पर सिद्धान्त के सम्बन्ध में भी उनकी मान्यतायें शिवदान सिंह से भिन्न हैं। वह रस को अन्तिम और शाश्वत कसौटी नहीं मानते। आचार्य शुक्ल के समान वह रस लौकिक ही मानते हैं।[2]

---

[1] आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और हिन्दी आलोचना, पृ0 114
[2] आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और हिन्दी आलोचना, पृ0 105

शुक्ल जी सामन्ती संस्कृति के ही विरूद्ध नहीं हैं। वह यूरोप की वर्वर साम्राज्यवादी संस्कृति का भी विरोध करते हैं। मध्यकालीन आक्रमणकारियों से यूरोप के व्यापारियों की तुलना करते हुए शुक्ल जी ने लिखा है कि पुरानी चढ़ाईयों की लूटपाट का सिलसिला आक्रमण काल तक ही, जो बहुत दीर्घ नहीं हुआ करता था, रहता था। पर यूरोप के अर्थानुवादियों ने ऐसी गूढ़ जटिल और स्थाई प्रणालियों प्रतिष्ठित की जिनके द्वारा भूमण्डल न जाने कितनी जनता का रक्त चूसता चला जा रहा है। न जाने कितने देश चलते फिरते कंकालों के कारागार हो रहे हैं। निस्संदेह आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का हृदय साम्राज्यवादी उत्पीड़न से व्यथित था।[1] मनुष्य लोकबद्ध प्राणी है। लोक के भीतर ही कविता क्या, किसी कला का प्रयोजन और विकास होता रहता है। शुक्ल जी ने लोकजीवन की महत्ता प्रतिपादन करते हुए साहित्य को लोकवादी सिद्ध कर दिया है। उनकी मौलिक मान्यता है कि साहित्य भावों और जीवन अनुभवों के बुनियादी अन्तरों को नहीं समझता। लोक हृदय में विलीन होने की कसौटी रखकर हर तरह के संकुचित व्यक्तिवादी और मानववादी धारणाओं से साहित्य को मुक्त करके उसे सामाजिक जीवन का एक अंग बना दिया है। वस्तुतः लोक हृदय मंगल लोकहित को उपेक्षित कर साहित्यकार आगे नहीं बढ़ सकता।

भारतेन्दु से लेकर निराला तक हिन्दी साहित्य परम्परा से डॉ0 शर्मा भलीभांति जुड़े हुए हैं। यह परम्परा गतिरूद्ध साहित्यिक रूप नहीं है। वह निरन्तर विकासमान रूढ़ियों की कड़ियों को तोड़ने वाली नये अनुभव संजोने

---

[1] आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और हिन्दी आलोचना, पृ0 51

वाली अभिव्यंजना और विश्लेषण की नई राहें निकालने वाली नयी परम्परायें हैं। इस परम्परा से शुक्ल जी का सम्बन्ध समझना आवश्यक है। डॉ0 शर्मा ने परम्परा के जड़त्व को समूल उखाड़कर प्रगतिशीलता के धरातल पर उपस्थित किया है। संस्कृति और राजनीति से उद्भूत साहित्य परम्परा के उद्वेलन में नई करवटों के साथ आगे बढ़ता रहा है।[1] प्रगति और परम्परा का विशिष्ट सम्बन्ध मानव मन की सूक्ष्म अनुभूतियों को डॉ0 शर्मा ने विकासवादी सिद्धान्त के आधार पर विश्लेषित किया है। काव्य लेखन परम्परा की पीठका पर आश्रित होकर अभिनव मानदण्डों को प्रशस्त करता है।

भारतीय सांस्कृतिक परम्परा में डॉ0 शर्मा ने आधुनिक काल के कवि लेखक को संयोजित किया है। भारतेन्दु युग से लेकर प्रयोगवादी कवियों तक डॉ0 शर्मा ने आलोच्य ग्रंथों में इसी विकासक्रम को दिखाया है। गत्यात्मक जीवन का पूर्वाग्रहयुक्त होना और अतिवादी भूमिका पर सांस्कृतिक विरासत से मुक्त होना परम्परा की दृष्टि में आता है। पारस्परिक जड़त्व साहित्य के लिए एक घुन है और पारम्परिक गतिशीलता साहित्य के लिए उपयोगी है। इस धारणा का विशिष्टीकरण डॉ0 शर्मा ने अपने आलोच्य ग्रंथ में बखूबी प्रस्तुत किया।

डॉ0 रामविलास शर्मा हिन्दी के उन गिने चुने आलोचकों में हैं, जिन्होंने साहित्य का मूल्यांकन एक सुनिश्चित जनवादी दृष्टिकोण से किया है। उन्होंने साहित्य और विचारधारा के अन्तः सम्बन्ध को स्थापित करते हुए

---

[1] परम्परा का मूल्यांकन, पृ0 51

समाजवादी यथार्थवाद को साहित्य में उतारा है। वे बहुत स्पष्ट सुलझे हुए विचारों के आलोचक हैं। उन्होंने हिन्दी के उन यथार्थवादी लेखकों को अपनी समीक्षा साहित्य में स्थान दिया है। इनकी अवधारणायें समाजवादी वैचारिक क्रान्ति को उद्गीरित करने में सिद्ध हैं। डॉ० शर्मा गगनाचारी वायुवी उड़ान भरने वाले कवि और लेखकों को उपेक्षित समझते हुये क्रान्ति दर्शिता का स्वर संधान ठोस धरातल पर करने में नवोदभूतचेता के साथ सफलीभूत हुये हैं। आज के युग का बौद्धिक वैभव डॉ० शर्मा की रचनाओं में परिलक्षित होता है। डॉ० शर्मा ने मानवीय संवेदना को पहचाना है। वे सर्वहारा वर्ग के पक्षधर हैं। राजनैतिक, सामाजिक और आर्थिक वैषम्य से पूर्ण जीवन की ललक में उन्होंने अभिव्यक्ति की उगंली पकड़ कर साहित्य को वाणी दीं। जिसमें सर्वहारा की अस्मिता और सामासिक सांस्कृतिक विकास का प्रारूप देखा जा सकता है। उदात्त जीवन दर्शन साहित्य का अधिष्ठान बनकर जनवादी आलोचना के सन्निकटता को प्राप्त कर सकता है।

(ख) समीक्षा दर्शन :

हिन्दी साहित्य में समाजशास्त्रीय प्रमुख साहित्यिकों में डॉ0 रामविलास शर्मा का विशेष स्थान है। जिन्होंने सामाजिक यथार्थवाद को साहित्य का उपजीव्य स्वीकार किया है। कलाकार की दृष्टि और वस्तुगत सौन्दर्य दोनों ही तत्व डॉ0 शर्मा की समीक्षा कृति में समाहित हो गये हैं। सामाजिक परिस्थितियों के बदलने से साहित्यगत प्रवृत्तियों का बदलाव डॉ0 शर्मा के अपने समीक्षा ग्रंथों में प्रतिपादित पूंजीवादी बहुपरीक्षित सत्य को डॉ0 शर्मा ने अनुमूल्यांकित सिद्ध कर दिया है। उनमें समीक्षा ग्रंथों में द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद उभरकर सामने आया है, जिनका विचार बिन्दुओं के तहत अधोलिखित रूप दृष्टव्य है।

कार्लमार्क्स ने समाज के विधायक तत्वों को सर्वहारा के क्रान्ति स्वरूपों में स्वीकृत किया है। डॉ0 शर्मा क्रान्ति के समर्थक हैं तथा नये सृजन के आदमी हैं और पूर्वाग्रह में मुखापेक्षी न होकर युग सत्य को मान्य करने वाले प्रबुद्ध आलोचक हैं और उन्होंने परम्परावादी कवि दर्शन का इसी दृष्टिकोण से विरोध किया और उसमें प्रगतिशीलता के बिन्दु पाकर प्रतिक्रियावादियों को गहरी लताड़ दी। विरोधों की अन्विति में ऐतिहासिक भौतिकवाद के उन गहन चिन्तनों में समाज के विकास की उन्होंने कहानी लिखी जिसका सीधा सम्बन्ध प्रगति और परम्परा से रहा हैं उन्होंने मार्क्स के द्वन्द्ववाद को स्वीकार कर ऐतिहासिक परम्परा के सिद्धान्त को प्रतिवादित करते हुए लिखा है–"ऐतिहासिक भौतिकवाद का

सिद्धान्त इस प्रकार समाज के विकास की कहानी कहता है जिससे इतिहास की परम्परा का विकास आर्थिक सम्बन्धों तथा उत्पादनों से सम्बन्धित हो जाता है।[1] आर्थिक सम्बन्धों के आधार पर ही मनोभावों रूपी विचारधाराओं का ढांचा खड़ा होता है। उन्होंने कम्युनिष्ट घोषणा पत्र का जिक्र करते हुए कर्म संघर्ष के सिद्धान्त का विवेचन भी किया है, जिसमें शोषण की पद्धति स्पष्ट रूप से शामिल की है। वे इतिहास क्रम का विकास दिखाकर पूंजीवादी व्यवस्था तक आते हैं और घोषणा करते हैं कि मजदूर ही वास्तविक क्रान्तिकारी हो सकता है। वह किसानों को सहभागी के रूप में स्वीकार करते हैं।[2] डॉ0 शर्मा ने विचारधारा की परम्परा को आत्मसात करते हुए राजनीतिक परिवर्तन के संघर्ष को मार्क्सवादी बताया है। वे पुरानी व्यवस्था के खिलाफ और नूतन के आग्रही हैं। व्यापारपरक दृष्टि से उनकी प्रतिबद्धता नहीं जुड़ती।

पारम्परिक विचारधारा के समर्थक होकर डॉ0 शर्मा ने साहित्य को राजनीति का अनुगामी सिद्ध किया है। उन्होंने कॉडवेल के साथ विचार कर्ताओं का आधार मनुष्य के आदर्शो से जोड़ा है। जैसे–जैसे उत्पादन साधन बदलते हैं, उत्पादन बदल जाता है। परम्परा के साथ प्रगति का सम्बन्ध अविच्छिन्न है। समाज में उत्पादन सम्बन्ध बदल जाते हैं तो समाज की प्रक्रिया भी बदल जाती है। समाज के साथ उस पर आधारित कला, संस्कृति की विचारधारा भी बदल जाती है।[3]

---

[1] प्रगति और परम्परा, पृ0 39
[2] प्रगति और परम्परा, पृ0 39
[3] प्रगति और परम्परा, पृ0 40

डॉ0 शर्मा यह भी मानते हैं कि परिवर्तन होकर समाज जहां नवीन रूप ग्रहण करता है, वहां पूर्व परम्पराओं को भी स्वीकार करता है।[1]

शोषक और शासित इनमें चिर संघर्ष होता रहता है। बुद्धिजीवियों को अलग वर्ग में रखना इन्हें अस्वीकार है। क्योंकि वह इनमें प्रचलित मान्यताओं को सम्पन्न बनाते हैं। बुद्धिजीवी इतिहास के क्रम में परम्परा के सम्बन्ध को जीवन्त बनाता है। क्योंकि उसमें श्रमजीवी वर्ग के लिए सद्भाव अन्तर्भूत होते हैं। इस उद्देश्यपरक दृष्टि का प्रतिस्थापन डॉ0 शर्मा ने परम्परा के ही संदर्भ में किया है।

साहित्य आर्थिक परिस्थितियों से नियमित होता है। युग बदलने पर जहां विचारों में परिवर्तन होता है वहां यथार्थता का नाता साहित्यकार से जुड़ता जाता है। साहित्य के रूप और उसकी विषयवस्तु के सम्बन्ध यथार्थवादी भूमिका से जुड़ा है। काव्य की सार्वजनीनता के लिए यथार्थ संदर्भ को डॉ0 शर्मा ने समीक्षालोक में उतारा है। उनका मत है कि साहित्य के चित्र यथार्थवादी पीठिका पर खरे उतरते हैं।[2]

कवि के ह्रदय की अनुभूति जीवन में यथार्थ का अंग है और कल्पना उसकी सहयोगीनी होती है। जनता और साहित्य की जातीय परम्परा यथार्थ के सामन्जस्य से जुड़ी हुई होती है। सामाजिक विकास क्रम में यथार्थवादी

---

[1] स्वाधीनता और राष्ट्रीय स्वतन्त्रता, पृ0 31
[2] विराम चिन्ह, पृ0 34

वर्गो ने एक अनिवार्य भूमिका पूरी की है और समाज व्यवस्था को कवि काव्य ही अंगीकृत कर सका है। डॉ0 शर्मा कवियों को ही क्रान्तिकारी सम्यक् विवेचित करते हैं। विश्व में यथार्थवादी जीवन का विकास हो रहा है और कवि सर्वहारा वर्ग का प्रतिनिधि बनकर जनवादी आन्दोलन में भाग ले रहा है। इसी कारण सचेत लेखक सामाजिक विकास के प्रति, समस्याओं के प्रति उदासीन होकर शान्ति, स्वाधीनता, जनतन्त्र और जातीय संस्कृति के लिए संघर्ष करते हैं। आज के युग की परिधि में वे अब तक संचित मानव मूल्यों की रक्षा करते हैं। इसी मार्ग पर चलकर वे इन मूल्यों को और भी समृद्ध करके अगले युगों को एक महान विरासत के रूप में छोड़ते जाते हैं। डॉ0 शर्मा बुद्धिजीवियों को वहीं तक क्रान्तिकारी मानते है जहां तक कि शोषितों के साथ हैं। उन्होंने पूंजीपति वर्ग और सांस्कृतिक वर्ग को एक सक्रिय प्रतिरोधी वर्ग के रूप में देखा है।[1]

यथार्थवादी काव्य साहित्य का मेरूदण्ड है। मानव इतिहास में उदात्त भाव व्यंजना अनुकूल शिल्प के साथ यदि एक ओर भाववादी बन जाती है तो दूसरी ओर यथार्थ की भूमि पर जनता और साहित्य की जातीय परम्परा लोक मंगलकारी सिद्ध होती है। साहित्य का सजीव चित्र केवल रेखाओं और रंगों में नहीं, उनमें यथार्थपरक विचार होते हैं।

साहित्य और समाज का अन्योन्याश्रित सम्बन्ध है। समाज की पीठिका पर लोक संस्कृति का व्यापक रूप सन्निहित बना रहता है। हिन्दी

---

[1] लोक जीवन और साहित्य, पृ0 45

साहित्य की ऐतिहासिक परम्परा में सर्वप्रथम सन्त साहित्य ने साहित्य में समाज को विलक्षण दृष्टि प्रदान की। समाज का प्रतिबिम्बन समाज में होता है। इस अवधारणा से परिपुष्ट डॉ0 शर्मा संत साहित्य को स्मरण करते हैं कि संत साहित्य हमें वह जनवादी आधार देता है, जिस पर नयी जन संस्कृति का प्रासाद बनाया जावेगा। ऐसी संस्कृति का जिसका उद्देश्य जन कल्याण होगा।[1] डॉ0 शर्मा समाज और साहित्य का घनिष्ठ सम्बन्ध स्वीकार करते हैं। साहित्य समाज का चित्रण करता है एवं समाज को प्रभावित करता है। न साहित्य का समाज पर प्रभाव सीधा सादा पड़ता है और न लेखक ही सामाजिक प्रभाव की यान्त्रिकता के साथ स्वीकार करता है। समाज के आर्थिक, सामाजिक स्थिति का परिणाम ही साहित्य है। डॉ0 शर्मा ने साहित्य और समाज के पारस्परिक अवधारणा में प्रगतिशील साहित्य को बाहर से थोपा हुआ न मानकर परिवेश की देन स्वीकार किया है। सन् 1947 से पहले भारत की विशेष परिस्थितियों में पहले साहित्य को समाज का दर्पण कहा गया है, वह आज भी सही है। यदि समाज को समझना है तो साहित्य की दृष्टि को समझना होगा। डॉ0 शर्मा का मन्तव्य है कि समाज को समझने और बदलने मे साहित्य का गहरा सम्बन्ध है।[2]

साहित्य और जन जीवन देश की तमाम परिवेशजन्य स्थितियों के प्रतिरूप हैं। मार्क्सवाद भारतीय समाज को समझने के लिए एक दृष्टिकोण देता है। उस दृष्टिकोण के तहत हम साहित्य में विषयवस्तु और समाज में वर्ग सम्बन्ध

---

[1] स्वाधीनता और राष्ट्रीय साहित्य, पृ0 98

[2] प्रगतिशील साहित्य की समस्यायें, पृ0 141

को किस रूप में देख सकते हैं, यह विचार समाजवादी है। डॉ0 शर्मा ने मार्क्सवाद की पीठिका पर समाज के सामन्जस्य का स्वरूप पहचाना है। साहित्य मनुष्य को एक ओर यदि उदात्त विचार देता है तो दूसरी ओर उदात्त दर्शन, उनके पारस्परिक प्रतिरूप मानव भाव संवेदना के पारक्षी होते हैं। कथ्यगत एवं शिल्पगत साहित्य समाजवादी अवधारणा का ही एक अंग अंगीरूप है। साहित्य से समाज का हित होता है और समाज से साहित्य का नियमन। इन दोनों प्रक्रियाओं के मध्य मनुष्य की विचारधारा कार्य करती है। व्यक्ति का मनोबल समाज के प्रकार प्रवाहमान धाराओं के साथ जुड़ा होता है। काल क्रमानुसार साहित्य में अपनी भावनाओं को प्रकट करता है। डॉ0 शर्मा ने इस दृष्टि से निम्न वर्गो की सामाजिक चेतना को निखारा और उसे बल प्रदान किया।[1]

साहित्य समीक्षकों का दृष्टिकोण मानवतावादी है। डॉ0 शर्मा के चिन्तन में युग सत्य के साथ ही जीवन के क्रमिक विकास में निहित शाश्वत सत्य के आकलन का प्रयत्न दृष्टिगोचर होता है। डॉ0 शर्मा ने अपनी रचनाओं में जीवन की स्वाभाविक परिणामों, अनुभूतियों एवं दशाओं को विवेचित किया है। लोकवादी मान्यता के अनुरूप वे मानव के चिन्तन को डॉ0 शर्मा ने अपने समीक्षा क्षेत्र में देखा है।

साहित्य रचना एक सामाजिक क्रिया है। जो मनुष्य के मन को बांधती है और मानव की हितवादी दृष्टि का ध्यान रखती है। डॉ0 शर्मा का

---

[1] आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और उनकी हिन्दी आलोचना, पृ0 62

विचार है कि यदि मनुष्य के सामाजिक कार्य पर साहित्य का प्रभाव न पड़े तो समालोचक का कार्य बहुत सरल हो जाये। यद्यपि इसके साथ ही साहित्यकार का दर्जा भी घट कर बहुत छोटा हो जाता है।[1] समीक्षक सामयिक साहित्य के महत्व को समझता हुआ मानवतावादी दृष्टिकोण को निर्वाहित करता है। मानवतावादी दृष्टि अत्यन्त स्पष्ट तथा सहज ही समझ में आने वाली होती है। डॉ0 शर्मा का मानवतावाद समिष्टगत मानव के आर्थिक, राजनैतिक एवं सामाजिक विकास का महत्वक्रांक्षी है। सामाजिक मानवतावाद ही उनकी समस्या का समाधान खोज पाता है। किन्तु इसके लिए वह सामाजिकता तक ही सीमित न रहकर उससे भी ऊंचा हो उठता है और सही अर्थो मे मानव के सांस्कृतिक उन्नति को ही अपना चरम लक्ष्य मानता है। डॉ0 शर्मा का मानवतावादी दृष्टिकोण लोकहित वादी संज्ञा से आपूरित है।[2] मार्क्सवादी समीक्षा में भी वे लोकहित को ही प्रथम और श्रेयकर मानते हैं। उनकी समीक्षा दृष्टि और मानवतावादी सामाजिक दृष्टि समान उद्देश्यों से परिचालित है। डॉ0 शर्मा को मानवतावाद को सीमित करने वाली संस्कृति अमान्य है।

डॉ0 शर्मा ने मानव सापेक्ष दृष्टि से साहित्य का समाकलन किया है। साहित्यालोचक कर्तव्य के अनुसार उन्होंने मनुष्य को क्रान्तिदर्शिता और वस्तु निष्ठता से प्रतिबद्ध करा दिया है। उनका मानवतावाद सांस्कृतिक उन्नति और आर्थिक प्रगति के साथ विधा हुआ है।

---

[1] स्वाधीनता और राष्ट्रीय साहित्य, पृ0 87
[2] लोकजीवन और साहित्य, पृ0 96

हिन्दी की विविधरूपा संस्कृति जनवादी मूल्यों के प्रति उन्मुख करती है। डॉ0 शर्मा ने जनवादी प्रजातन्त्र की सुविधा के लिये अपने साहित्य में कार्लमार्क्स के आधार पर ही विचार किया है। इस विचारधारा में मानव को पतोन्मुखी तथा आहार, निद्रा और मैथुन के स्तर पर जीवित रहने वाला प्रकृति मूलक जीव माना जाता है। फ्रान्स में प्रारम्भ होने वाले इस आन्दोलन के प्रवर्तक कलाकारों ने नग्न, गर्हित, वीभत्स एवं वर्जनीय को ही छाँट–छाँटकर अपनी कला का आधार बनाया है।[1] डॉ0 शर्मा ने जनवादी आन्दोलन के हिमायती होकर यथार्थवादी दृष्टिकोण का विकास किया है। जनवादी आन्दोलन में साहित्यकार की स्वतन्त्रता कार्य करती है। डॉ0 रामविलास शर्मा ने जनवादी साहित्य को प्रगतिशील बताया है, जिसकी भावभूमि और मनोभूमि समाज की चरमसीमा को उद्घाटित करता है, जो लेखक की कल्पना में जन्म लेकर उसकी कृति में प्रस्तुत की गयी परिस्थितियों से क्रिया–प्रतिक्रियात्मक रूप से सम्बद्ध हो अर्थात स्वयं अपना अस्तित्व रखते हों, न कि लेखक के हाथ की कठपुतली हों। जनवादी प्रजातन्त्र की स्थापना के लिए डॉ0 शर्मा ने प्रगतिशीलता को वर्गों, देशों, युगों आदि की सीमाओं में निराबद्ध करने की ओर जोर दिया है। उनका मत है कि जो समाज को आगे बढ़ाता है, वही मनुष्य के विकास में सहायक होता है।[2]

---

[1] Studies in European realisiom, P. 1-4

[2] प्रगति और परम्परा, पृ0 49

वर्तमान काल के साहित्य को आज की समस्याओं से अनुप्राणित और भावी निराकरण की दृष्टि से युक्त होना चाहिए।

डॉ0 शर्मा ने साहित्य में समाज के ऐतिहासिक और वर्तमान कालीन ऐसे चित्रों को स्वीकार किया है, जो मानव समाज के भावी स्वरूप को निर्धारण करने में सहायक हो सके। आज का युग यथार्थ के सच्चाई के साथ जनवादी आन्दोलन में ही विचारणा का चित्रण करता है। बुर्जुआ विचारणा प्रजातन्त्रीय रूपरेखा को धक्का देती है और यथार्थवादी जनवादी मान्यता नेतृत्व करके संकुचित दृष्टि को विस्तृत बनाती है।[1] विचार दर्शन के अभिप्रेरित स्वरूप पर विचार करते हुए डॉ0 शर्मा ने मनुष्य की वर्ग संघर्ष लोक परम्परा का स्थान निर्धारित किया है। उनकी जनवादी प्रजातान्त्रिक भूमिका आर्थिक, सामाजिक गुलामी की जड़ों पर कुठाराघात करती है। ये सारे प्रश्न जनवादी आन्दोलन के साथ जुड़े हुए हैं। कला साहित्य के मूल में जनवादी अवधारणा प्रगतिमूलक सिद्ध करते हुए डॉ0 शर्मा ने जनवादी समाजवाद को विशिष्टता प्रदान की है।

मनुष्य की विचारधारा का मूल स्त्रोत शुद्ध विचार न होकर समाज की आर्थिक व्यवस्था होती है। मार्क्स ने 'क्रिटिसिज्म ऑफ पोलिटिकल एकोनोमी' की भूमिका में लिखा था कि सामाजिक उत्पादन के सिलसिले में मनुष्य ऐसे सम्बन्ध स्थापित करते हैं जो उनकी इच्छा और अनिच्छा पर निर्भर नहीं होते। इसका यह मतलब नहीं है कि मनुष्य की विचारधारा का असर आर्थिक ढांचे पर

---

[1] साहित्य संदेश, जनवरी–फरवरी, 1962

नहीं पड़ता। राजनैतिक, दार्शनिक, धार्मिक, कलात्मक, साहित्यिक विकास का आधार आर्थिक आधार है। समाजवादी साहित्य की विशिष्टता का कारण क्रान्ति दर्शिता ही है।

कला को ही मुख्यतः प्रदान करने वाले सामाजिकता विहीन साहित्यकार डॉ0 शर्मा को पसन्द नहीं है। कला सामाजिक प्रभावों से नियमित रहती है और यदि नियामकता उसकी हटा दी जाय तो कला भी अराजक बन जायेगी और समाज का हित भी नहीं होगा। स्मरणीय है कि समाज विरोधी विषय वस्तु के वर्णन तथा चित्रण से समाज के बहुसंख्यक लोग आनन्द लाभ नहीं कर सकते।

आधुनिक हिन्दी साहित्य का उत्थान काल समाजवादी साहित्य की विशिष्टता से जुड़ा हुआ है। यह जनता के जातीय और जनवादी साहित्य का भी उत्थान है। इसी युग में हिन्दी को सामन्ती प्रभाव से मुक्त करके राष्ट्रीय स्वाधीनता जातीय एकता और जनता की सेवा के नये रास्ते पर चलने की कोशिश की गयी है। जिनमें समाजवादी साहित्य की विशिष्टता पूर्ण रूप से परिलक्षित होती है। डॉ0 शर्मा का दृष्टिकोण है कि यथार्थ जीवन का वह वास्तविक चित्रण जो समाज का पूरा चित्र उतार देता है, समाज में उसका रूप है। उन शक्तियों को बल पहुंचाना जो समाज की कुरीतियों को दूर करने में लगी हैं, समाज की मूल विकृति है। सम्पत्ति के उत्पादन एवं वितरण में असमानता और शोषण से धन के माध्यम से जो आज सारे सम्बन्ध नियन्त्रित हैं,

वह मनुष्य की समाज की सबसे बड़ी विकृति है। धन न तो आज व्यक्तिगत स्वतन्त्रता देता है और न सामाजिक।[1] जैसा कि इस उदाहरण से स्पष्ट है कि मार्क्स के द्वन्द्ववाद, विकासवाद एवं अर्थ सम्बन्धों पर आधारित वर्ग संघर्ष को डॉ0 शर्मा ज्यों का त्यों मानते हैं। उन्होंने समकालीन साहित्यकारों को चेतावनी दी है कि वह समुचित विचारों को छोड़कर मानव की रक्षा करें और दूसरा इसके लिए उन्हें विरोधियों से संघर्ष करना पड़े तो उसके लिए भी तैयार रहें। मनुष्य के सामाजिक विस्तार को साहित्य कला ही यथार्थ जीवन में समाज का पूरा चित्र स्पष्ट करती है।

प्रगतिशील साहित्य का राजनैतिक और आर्थिक पक्ष जनकल्याण के निमित्त होना चाहिये। क्रान्ति का मतलब मजदूरों का उत्थान मात्र नहीं बल्कि बौद्धिक परिवर्तन की जड़े जमानी होगीं।

जीवन में जो कुछ अर्जित है उसके पीछे सांस्कृतिक, संवेदनात्मक ज्ञान है। मनुष्यता जीवन मूल्यों के संवेदनात्मक इतिहास को समाजवादी संरचना में निरूपित करती है। ऐसे सौन्दर्यमय क्षणों एवं मनोवैज्ञानिक क्षणों से वंचित अथवा अल्प, समृद्ध, दरिद्र आलोचक वस्तुगत मनोभावों से सांस्कृतिक अन्वेषण में कितना सिद्ध होता है, इस बोध को अनुशासन प्रक्रिया नहीं समझ सकती। साहित्य में विभिन्न विशेषताओं में सांस्कृतिक अवधारणा मुख्य है। संस्कृति विचारकों के महान उद्गारों का संकलन होती है और समाज में निहित उक्त

---

[1] साहित्य संदेश, जनवरी–फरवरी, 1963

भावनाओं से उनका सम्बन्ध जुड़ा रहता है। एक ओर संस्कृत के सामान्य और सृजनात्मक स्तरों को एक करना उसका कर्तव्य होता है दूसरी ओर काव्य व्यक्तित्व को अधिक पुष्ट, सम्बृद्ध और आधुनिक बनाना होता है। संस्कृति सामान्यतः बहिर्मुखी दुनिया से सम्बन्धित होती है, जिसका डॉ0 शर्मा ने सविस्तार वर्णन किया है। उनका मत है कि साहित्य में विषय और व्यंजना एक दूसरे के आश्रय हैं। साहित्य सांस्कृतिक चेतना के साथ समाजवादी भावनाओं को अनुशासित कर जातीय वर्ग, द्वन्द्व वर्ग को आगे बढ़ाती है। लेखक की प्रतिभा युग की प्रवृत्ति के अनुसार प्रतिक्रियावादी अथवा प्रगतिशील हो सकती है।[1]

मनुष्य समाज आज जिस शोषण मुक्त न्याय ओर समानता के सिद्धान्तों पर आधारित जनतान्त्रिक समाजवादी व्यवस्था की आकांक्षा करने लगा है, उसमें वह भौतिक और आध्यात्मिक दोनों क्षेत्रों में समान रूप से विकास करना चाहता है। डॉ0 शर्मा को यह अनिवार्यतः प्रतीत हो रहा है कि व्यक्ति विभिन्न और समाज के बीच विभिन्न भाषाओं संस्कृतियों एवं सभ्यताओं के बीच विभिन्न धर्मो दार्शनिक विचार धाराओं आदि के बीच मानवीय स्तर पर सह अस्तित्व करना आज की ऐतिहासिक आवश्यकता है। उन्होंने ऐतिहासिक भौतिकवाद को सिद्धान्त समाज और संस्कृति के प्रतिस्थापन में ही लागू किया है।[2]

---

[1] भाषा, संस्कृति और साहित्य, पृ0 208
[2] प्रगति और परम्परा, पृ0 39–90

भारतीय संस्कृति एवं विभिन्न जातियों का सांस्कृतिक सम्बन्ध क्या है और सांस्कृतिक निर्माण कैसे हो, इस अवधारणा को पहचानते हुए डॉ0 शर्मा समाजवादी संस्कृति को सोल्लास साहित्य में उतारने के पक्षपाती हैं।[1]

डॉ0 शर्मा मनुष्य के धर्मानुकूल सांस्कृतिक विचारणा को साहित्य में उद्भावित मानते हैं। सांस्कृतिक चेतना बहुत ही प्रखर जागरूकता होती है। जनक्रान्ति के साथ उसमें असाधारणजीवन्तता आ जाती है। भाव विचारों की सम्पदा शब्दों के विराट चित्र में सांस्कृतिक समन्वय के साथ ही खो जाती है। सामन्ती समाज ने जिसे संस्कृति के प्रांगण से अलग कर दिया था, जनवादी समाजवाद ने उसे आत्मसात् कर नया आयाम उद्घाटित किया।

आधुनिक युग में भाषा संस्कृति और साहित्य की त्रिवेणी में स्नात व्यक्तित्व की झलक विविधरूपा होकर जनक्रान्ति की ओर उन्मुख है, जिसमें क्रमशः साहित्य दर्शन और श्रमिक वर्ग श्रमजीवी संगीत क्रान्ति के बीज बपन द्वारा सह–विविक्षता को उद्गीरित करने में सफलीभूत है। काव्य मानव समाज को उस ओर अग्रसर करने में सक्षम होता है, जिस ओर लोक संस्कृति और मानव जीवन की तत्व प्रक्रिया एकाकार हो उठती है। डॉ0 शर्मा ने जन सांस्कृतिक अभिरूचि को भाषागत यथार्थवादी भूमि पर प्रतिपादित किया है, जो जाति जिस समय जिस भाव से परिपूर्ण या परिलिप्त रहती है, उस सबका संस्कृतिगत प्रभाव साहित्य और समाज पर भी देखा जा सकता है। सामाजिक रीति, पद्धति सांस्कृतिक मानव प्रकृति पर निर्भर होकर लोकहितवादी संरचना में

[1] स्वाधीनता और राष्ट्रीय साहित्य, पृ0 139

कुशल होते हैं। डॉ0 शर्मा ने युग की नयी चेतना को स्थापित करने के लिए समाजवादी मनोवृत्तियों को सांस्कृतिक रूप में देखा है। यथार्थवाद की स्थिति प्रत्येक युग की भावनाओं में संयोजित होती है। इस श्रेणी को स्थापित करना भाषा और साहित्य के परिमार्जन में कलात्मकता का कार्य होता है। लोकवादी सामयिक प्रश्नों को डॉ0 शर्मा ने साहित्य समीक्षा सिद्धान्तों में परिशीलन किया है। वस्तुतः ज्ञान और सौन्दर्य बोध विश्व व्यापी वस्तु है। इनके केन्द्र देश, काल और परिस्थितियों से तथा प्रधानतः संस्कृति के कारण भिन्न–भिन्न अस्तित्व रखते हैं।[1]

साहित्य और कला मार्क्सवादी मान्यतानुसार सांस्कृतिक स्तर पर परिमार्जित होते हैं। युग की समीक्षा विशिष्ट विचार धारा और भावना दृष्टिगत होती है। सांस्कृतिक मान्यताओं को जनसामान्य के लिए भाषा के आचरण पर उद्भाषित किया जाता है। डॉ0 शर्मा ने सांस्कृतिक मान्यताओं का अर्थ विश्वजनीय व्यापकता से लिया है। उन्हें मानवतावादी दृष्टिकोण माना है, जिसमें भाषा, साहित्य और संस्कृति का सामंजस्य पूर्णरूपेण हो। सांस्कृतिक नव–निर्माण के लिए डॉ0 शर्मा लिखते है–''साहित्य सांस्कृतिक विरासत को लेकर समाज में प्रभावी भूमिका निभाता है''।[2]

यह बात स्मरणीय है कि डॉ0 शर्मा ने प्रतिक्रियावादी साहित्य को कुत्सित और घृणित कहा है। समाज के उद्भावित स्वरूप में जनक्रान्ति अन्तर्भूत

---

[1] भाषा, संस्कृति और साहित्य, पृ0 49
[2] भाषा संस्कृति और साहित्य, पृ0 188

बनी रहती है और वह वस्तुनिष्ठ सौन्दर्य बोध के साथ सृष्टि पर प्रमाणाभिव्यजंक होती है। हिन्दी की समाजशास्त्रीय समीक्षा ने परम्परागत अवधारणा को जनवादी मान्यताओं के साथ नये पथ पर अग्रसर किया है। सामाजिकता और सांस्कृतिक उन्मेषता की अवस्थिति जनवादी आन्दोलन के साथ मनुष्य के सर्वांगीण विकास एक जुट होकर देखती है। समाज शास्त्रीयता का प्रश्न वहां विश्व व्यापक हो जाता है। डॉ0 शर्मा ने संस्कृति की अनुभूत्यात्मकता को जनवाद के साथ जोड़ते हुए उसे विस्तीर्ण अर्थ में ग्रहीण किया है। उनका विचार है कि जो कुछ जीवन यथार्थ, प्रगति तथा समाजवादी दृष्टिकोण के प्रति विपरीत है वह अमान्य समझा जाये। लोकवादी सामाजिकता का विवेचन सांस्कृतिक जीवन्तता के साथ भाषा के सामर्थ्यों में ही सम्भव है, जिसे डॉ0 शर्मा ने बखूबी समाकलित किया है।

भूत और चेतना के प्रश्न को उठाये हुए कार्लमार्क्स ने बताया है कि मनुष्य की चेतना को सामाजिक द्वन्द्व ही निश्चित करता है।[1] डॉ0 शर्मा भूत और चेतना में से द्वन्द्ववादी अवधारणा को अपने साहित्य में अवतरित करते हैं। उन्होंने चेतना की शक्ति को मानवीय द्वन्द्ववाद से उद्भूत सिद्ध किया है। इस कथन में साहित्यिक महत्व की मौलिक उद्भावनायें भी सिद्ध होती हैं और सामाजिक द्वन्द्व का साहित्यिक महत्व किस प्रकार जनजीवन में उतरता है, इस बात की भी पुष्टि होती है। साहित्य का विकास तत्कालीन जातीय जीवन और उसमें प्रवाहित होने वाले आधारों पर निर्भर रहता है।[2] कवि और साहित्यकार

---

[1] Selected works, P. 269
[2] भारतेन्दु युग, पृ0 47

अपनी विशेष संवेदनशीलता के कारण समाज के वायुमण्डल में बिखरी हुई बिचार तरंगों को रेडिया की आकाशवाणी की भांति ग्रहण तथा उद्भावन कर साहित्यिक महत्ता का प्रतिपादन करता है।

साहित्य, संघर्ष एवं द्वन्द्व की देन है। अतीत के इतिहास से स्पष्ट है कि तत्कालीन सामाजिक द्वन्द्व से उद्भूत साहित्यकारों और ग्रंथों का प्रणपन हुआ है। इतिहास केवल साहित्यकारों और ग्रंथों का केवल संगठन मात्र नहीं होता, वरन् तत्कालीन जातीय जीवन और उसमें प्रवाहित होने वाली समाज चेतना का परिणाम भी होता है। सामाजिक समस्याओं पर लिखे गये साहित्यिक लेख इस तथ्य की पुष्टि करते हैं। समाज में विषमताओं के जड़ पकड़ने से द्वन्द्व का आर्विभाव होता है और द्वन्द्व का आर्थिक आधार, आर्थिक सम्बन्ध ही है। क्योंकि समाज की पीड़ा, यातना, असमानता, द्वन्द्वग्राही होती है। समाज की प्रतिक्रिया व्यक्ति पर अवश्य होती हैं आज संरक्षण और उद्बोधन कहीं गहरे जा चुके हैं। परिणामतः सर्वहारा वर्ग को उत्थान दे सकने वाली सम्भावना आज प्रमुख है। मानव समाज मे विकास और उसकी आकांक्षा की पूर्ति ऐसी विचारणायें सामाजिक द्वन्द्व बनकर समष्टि के सामने उपस्थित होती है। मार्क्सवादी विचारधारा में मध्य एवं निम्न वर्ग की दयनीय दशा के लिए चिन्ता प्रकट की है। इस युग की समीक्षा आधार सामाजिक द्वन्द्व बन गया है। इस विचारधारा से प्रयुक्त साहित्य सच्चे अर्थो में मानवीय संवेदना का प्रतिरूप है। यथा तथ्य यथार्थवादी विचारणा से सामाजिक द्वन्द्व को साहित्य के अधिक निकट और बोलता हुआ देखा गया है। यथार्थ के पीछे छिपे हुये द्वन्द्व को साहित्यकार

आत्मसात् करता है और समीक्षा पाठकों की उस विचारणा के पीछे हुये द्वन्द्व को साहित्यकार आत्मसात करता है और समीक्षा पाठकों की उस विचारणा के प्रति आकर्षित करती है।

मार्क्स वस्तु निष्ठता पर समाज एवं वर्ग संघर्ष की व्याख्या प्रस्तुत करती हैं देश का साहित्य वहां की जनता की चित्तवृत्ति का समुचित प्रतिबिम्ब होता है। तब यह निश्चित है कि जनता को चित्तवृत्ति परिवर्तन के साथ साहित्य के स्वरूप में भी परिवर्तन हो सकता है। डॉ0 शर्मा ने सत्य के समान ही सौन्दर्यवादी मान्यता को वस्तु सापेक्ष माना है। सौन्दर्य आज भाववादी न होकर वस्तुनिष्ठता से जुड़ा हुआ है। देश–विदेश के कवि, लेखक मानव–मन को विश्लेषण करने में आज भी प्रवृत्त हैं। लेकिन उन सबका दृष्टिकोण भले ही अलग–अलग हो फिर भी भाववादी कल्पना केवल थोपी और काल्पनिक ही कही जा सकती है। डॉ0 शर्मा ने काडवेल, हेगल आदि साहित्य विचारकों के उदाहरण देकर सौन्दर्य को वस्तुगत सत्ता पर विचार किया है और उन्होंने लिखा है–''सौन्दर्य काव्यशास्त्र के रस की सत्ता स्वीकार करता है और रस की सत्ता समाज के विकास के साथ बदलती जाती है। साहित्य विकासमान है और यह एक वस्तुनिष्ठ सामाजिक क्रिया है जिसका सबसे बड़ा सबूत यह है कि प्राचीन आचार्यो ने भविष्य देखकर जो सिद्धान्त बनाये वे आज नये साहित्य पर पूरी तरह लागू नही किये जा सकते। उन्हें लागू करने से या तो पैमाना दूर हो जायेगा या

फिर अपने ही पैरों को थोड़ा तराशना पड़ेगा। काव्य के नौ रसों के भाववाद की परख वस्तुनिष्ठ ही हो सकती है।"[1]

काव्यशास्त्र में वर्णित रस की भाववादी व्याख्या चिरमानवीय सौन्दर्य बोध से बहुत दूर है तथा आज के युग के लिए नितान्त अनुपयुक्त है। डॉ0 शर्मा को वही सौन्दर्य प्रयुक्त साहित्य अच्छा लगता है जिसमें वस्तुनिष्ठता की पहचान हो, जो शोषण के प्रति घृणा उत्पन्न करके सर्वहाहरा के पक्ष का समर्थन करता हो। ऐसा न करने पर साहित्य प्रतिक्रियावादी होगा, समाज से पिछड़ा रहेगा और उसका कोई मूल्य न होगा। डॉ0 शर्मा देश, काल, परिस्थिति के अनुकूल निरन्तर विकासमान तथ्य के रूप में वस्तुनिष्ठ सौन्दर्यबोध की मान्यता देते हैं।[2] साहित्य और प्रमाता वर्ग द्वन्द्वात्मक सम्बन्ध से जुड़े हुये हैं और सामाजिक द्वन्द्व वस्तुवादी प्रगतिशील अवधारणा से सम्पृक्त हैं। सम्भवतः साहित्य की विषयवस्तु साधारण असाधरण मौलिक अमौलिक जैसी भी हो, उसमें सामाजिक ऐतिहासिकवाद से प्रयुक्त शब्दावली वस्तुगत सत्ता के साथ ही लालित्य बोधीय बनती है। व्यक्ति की अनुभूतिशीलता का सर्वमान्य गुण वस्तुसत्ता से प्रतिबद्ध है।

भारतीय काव्यशास्त्र के आधारभूत सिद्धान्त रस के सम्बन्ध में विविध रूप रहे हैं। रस अन्तिम और शाश्वत कसौटी को प्राप्त नहीं कर सका है। जहां एक ओर रस की व्याख्या अलौकिक ब्रह्मानन्द सहोदर के रूप में की गयी है वहां दूसरी ओर उन भाववादी मान्यताओं को खण्डित करते हुए डॉ0 शर्मा ने

---

[1] प्रगति और परम्परा, पृ0 130
[2] परम्परा का मूल्यांकन, पृ0 6

रसानुभूति की वस्तुगत सत्ता को स्वीकार किया है। निस्संदेह रस की भाववादी व्याख्या सामन्तयुग की देन है। इसमें साहित्य की सामाजिकता का विवेचन अपूर्ण और अधूरा ही माना जाता है। डॉ0 शर्मा ने रस के स्थाई भावों को लौकिक अनुभवों के आधारों पर कसा है।[1] साहित्य में जो परम्परागत स्थाई भाव माने गये हैं, उनको डॉ0 शर्मा इसलिए स्वीकार नहीं करते क्योंकि मनुष्य का जीवन सदैव स्थिर नहीं रहता। देश, काल और परिस्थितियों से उसमें विकास होता रहता है। अतः रसों की व्याख्या निश्चित नहीं की जा सकती। डॉ0 शर्मा की रसानुभूति की व्याख्या करते हुये द्वन्द्ववाद का आश्रय लेना पड़ा है। वह मानते हैं कि रस सौन्दर्य वस्तु से अभिन्न है, इसलिए रस की मार्क्सवादी व्याख्या ही समीचीन है। जब दो विरोधी तत्वों की एकता प्रकट होती है, तभी रस उत्पन्न होता है। साहित्य साधारण और असाधारण विरोधी तत्वों की एकता प्रकट करता है। साहित्य, पाठक या श्रोता की सहृदयता का यह द्वन्द्वात्मक सम्बन्ध सौन्दर्यानुभूति और रसानुभूति के साथ जुड़ा रहता है।[2] डॉ0 शर्मा रसानुभूति के वस्तुवादी आग्रही समीक्षक हैं, वे विचारते हैं कि समाज बदल जायेगा और जनता का सौन्दर्य बोध अपने आप बदल जायेगा। अतः साहित्य को आर्थिक और सामाजिक क्रान्ति के लिए कार्य करना चाहिए और उसके लिये वह खुलकर सौन्दर्य बोधीय सत्ता के प्रारूपण को रसानुभूति में आत्मसात कर सके। डॉ0 शर्मा की दृष्टि और

---

[1] भाषा, संस्कृति और साहित्य, पृ0 137
[2] लोक जीवन और साहित्य, पृ0 15

पकड़ अनुभूतिशीलता से युक्त है। उन्होंने सौन्दर्यानुभूति और रसानुभूति को परम्परागत भाव वाद से हटाकर नयेपन की ओर अग्रसर किया है। इसमें भावानुभूति ओर संवेदन मूल यथार्थवादी विचारणा से प्रयुक्त बन गया है।

सन् 1947 के बाद देश में सामन्तवाद और साम्राज्यवाद के अवशेष खत्म करके समाजवादी व्यवस्था रचने के लिये मार्क्सवाद की ऐतिहासिक आवश्यकता हुई। यदि समाज को समझने और बदलने और अभिनव समाज रचने के लिये वैज्ञानिक समाजवाद की आवश्कता है तो वह साहित्य के लिये भी उपयोगी होगा और समाज के लिये भी। डॉ0 शर्मा का मत है कि समाज और साहित्य की गतिविधि के प्रति वैज्ञानिक दृष्टिकोण अपनाना है।[1] मार्क्सवाद समाज को समझने और उसे बदलने का विज्ञान है। जो भी अभिनव समाज की रचना करना चाहता है उसे मार्क्सवाद का अध्ययन करना आवश्यक है। मार्क्सवाद से प्रभावित होने का अर्थ यह नहीं है कि हम साहित्य को किसी राजनैतिक कार्यक्रम से बांध देते हैं, वरन् उससे प्रभावित होने का अर्थ समाज और साहित्य की गतिविधि के प्रति वैज्ञानिक दृष्टिकोण अपनाना है। सन् 1947 के पहले और आज भारत की विशेष परिस्थितियों में कांग्रेस नेतृत्व की ढुलमिल नीति के कारण सामन्तवाद और साम्राज्यवाद के विरूद्ध संगत रूप से संघर्ष करने के लिए मार्क्सवाद की सामाजिक आवश्यकता है। साहित्यिक क्षेत्र में जनता और साहित्य

[1] प्रगतिशील साहित्य की समस्याये, पृ0 147

का सम्बन्ध समझने में पुराने साहित्य का वैज्ञानिक मूल्यांकन करने में मार्क्सवादी साहित्य की सहायता आवश्यक है। दरअसल प्रतिक्रियावादी व्यक्ति और समाज के यथार्थ सम्बन्धों पर पर्दा डालते हैं और सर्वहारा के प्रति विरोधी रवैइया अपनाते हैं। समाजवादी विश्व गौरव के अनुरूप होकर शक्तिशाली साहित्य के आन्दोलन की आवश्यकता महसूस करते हैं। अभिनव समाज रचना साहित्यिक प्रभावों का आत्मसात करने से हो सकती है। साहित्य का सीधा सम्बन्ध सामान्य जनता से है। यदि साहित्य को पूंजीवादी वर्ग के निकट ले जाकर खड़ा कर दिया गया तो साहित्य का मुख्य उद्‌देश्य अपूर्ण ही रह जायेगा। डॉ0 शर्मा ने जनजीवन और प्रगतिशील साहित्य का सम्बन्ध स्पष्ट करते हुए लिखा है कि साहित्य जनता की वाणी है और प्रगतिशीलता का सम्बन्ध अभिनव समाज रचना से है।[1] साहित्यकार समाज की वास्तविक स्थितियों का चित्रण करते हुए भी उसकी दृष्टि भविष्य पर ही रहती है। वह बुद्धिजीवी इतिहास के क्रम में इसलिए महत्वपूर्ण है कि उसने समाजवादी आन्दोलन की एक नई दिशा प्रदान की है। साहित्य जनता के आर्थिक और राजनैतिक सम्बन्ध से नाता जोड़कर नये समाज का निर्माण करने की क्षमता रखता है और पुरानी व्यवस्था के खिलाफ लड़ता है। साहित्य परिवर्तित होते हुये समाज के नवीन रूप ग्रहण करता है और समाज के साथ ही साथ उस पर आधारित कला संस्कृति की विचारधारा भी बदल जाती है। साहित्य समाज का चित्रण करता है और समाज को प्रभावित करता है।

---

[1] स्वाधीनता और राष्ट्रीय साहित्य, पृ0 128

डॉ0 रामविलास शर्मा साहित्य को समाजनीति, संस्कृतिनीति तथा राजनीति का अनुगामी मानते हैं। उनकी समीक्षा का आधार भी यही है। इस सम्बन्ध में उन्होंने स्वयं ही विस्तार से प्रकाश डालते हुये कहा है कि राजनीति साहित्य का आधार है। किसी भी देश की राजनीति, संस्कृति तथा आर्थिक व्यवस्था के आधार के बिना टिक नहीं सकती। जो लोग संस्कृति को राजनीति से अछूता रखना चाहते हैं वास्तव में वे एक निराधार संस्कृति की सृष्टि करना चाहते हैं।[1] राजनैतिक और आर्थिक व्यवस्था में परिवर्तन के साथ संस्कृति में भी परिवर्तन होता है इसलिये सामंती आर्थिक व्यवस्था को पोषित करने वाली संस्कृति को पूंजीवादी संस्कृति कहते हैं। हमारे समाज में कुछ विचार सिद्धान्त ऐसे है जो जनता के शत्रुओं का हित करते हैं, इसलिए आलोचक के लिए आवश्यक हो जाता है वह साहित्य के विचारों एवं सिद्धान्तों की समीक्षा करते हुए वह ये स्पष्ट करे कि उनसे जनता का हित होता है। राजनीति और साहित्य का यह संघर्ष समाजवादी समीक्षक के साथ सदैव जुड़ा हुआ है। डॉ0 शर्मा ने स्पष्ट वक्ता और निर्भीक मन होकर समाजशास्त्रीय समीक्षा का आग्रह स्वीकार किया है।

***

[1] मैं इनसे मिला, प्रथम भाग, पृ0 191

पंचम अध्याय

समाजशास्त्रीय हिन्दी समीक्षक
(शिवदान सिंह चौहान एवं प्रो० प्रकाशचन्द्र गुप्त)

हिन्दी की समाजशास्त्रीय समीक्षा सर्वाधिक महत्व समाजवादी यथार्थवाद को देती है। यथार्थवाद के अनेक रूपों का प्रचलन आज विश्व साहित्य में भरपूर हो रहा है। श्री चौहान् एवं प्रो0 गुप्त ने समाजशास्त्रीय समीक्षा के अनुरूप अपनी कृतियों को प्रणीत किया है जिनका विवरण इस प्रकार है :–

(क) समीक्षा साहित्य :

मार्क्सवादी तात्विक विवेचन को श्री चौहान ने अपने इस ग्रंथ में यथार्थवादी भूमिका के साथ संश्लेषित किया है। श्री चौहान की समीक्षात्मक मान्यताओं में मार्क्सवादी तत्व अतिविस्तार के साथ समायोजित हैं। उन्होंने मार्क्स के आधारभूत सिद्धान्त द्वन्द्ववाद को समाजवादी भूमिका पर प्रगतिशील तत्वों के साथ प्रतिपादित किया है। वे प्रगतिवादियों की इस मान्यता को मार्क्सवादी सिद्धान्तों के अनुकूल मानते हैं।[1] साहित्य की संश्लिष्ट प्रक्रिया ऐतिहासिक दर्शन और वैज्ञानिक अन्वेषणा के साथ जुड़ी हुई है। इस अवधारणा को स्पष्ट करते हुए जनजीवन का आधार श्री चौहान ने साहित्य बताया है और लिखा है कि तात्विक दृष्टि से भरत मुनि के सामने एक सामाजिक आदर्श था और इस आदर्श को कार्यान्वित करने के लिए उन्हें नाटक ही ऐसा माध्यम दिखाई दिया, जिसमें

---
[1] Dialectical Materialism, Page. 23-24

सभी शास्त्रों, कलाओं का व्यवस्थापक चित्रकला, नृत्य, संगीत, अभिनय, इतिहास दर्शन, समाजशास्त्र, कपड़ों का रंगना, सजावट आदि का समावेश और समन्वय करना सम्भव था और हर वर्ग जाति के दर्शकों और अभिनेताओं के सामूहिक सहयोग से जिसमें समग्र भारतीय जीवन की झाँकी प्रस्तुत की जा सकती है।[1]

श्री चौहान ने काव्याकृति और उसकी रस योजना को देश काल और परिस्थिति को विच्छिन रूप में देखा है। इसमें भी उन्होंने अन्य शास्त्रों के समान निर्पेक्ष और सापेक्ष तत्वों की अन्विति प्रदान की है। हर शास्त्र अपने देश काल सीमित वस्तु जगत के ज्ञान पर आधारित होता है और प्रयोग में भी उसमें निहित सत्य की परीक्षा होती है। यानि वस्तु के साथ विचार की संगति ही सत्य की प्रतीति का एक मात्र नियम है, इसलिए हर शास्त्र सापेक्ष और निर्पेक्ष सत्यों की द्वन्द्वात्मक निष्पत्ति होता है। रस सिद्धान्त भी सौन्दर्य के युग सापेक्ष और युग निर्पेक्ष नियमों की एक अन्विति है। काव्यार्थ, भाव–विभाव अनुभाव संचारी के संयोग से नाट्य में रस की निष्पत्ति और प्रेक्षणों द्वारा उसे आस्वाद होने के भरत मुनि के सिद्धान्त में नाट्य प्रयोग सम्बन्धी अनेक स्थूल बातें युग सापेक्ष हैं। अर्थात् उनका सम्बन्ध भरतकालीन समाज व्यवस्था विचार दृष्टि शिल्प ज्ञान और तात्कालीन नाट्य प्रयोग की पद्धति या परम्परा से है।

युग सापेक्ष नाट्य प्रयोगों को श्री चौहान ने प्रस्तुत कृति में सैद्धान्तिक आधार से विवेचित किया है। नाट्य प्रयोगों में सौन्दर्य सृष्टि और

[1] आलोचना के सिद्धान्त, पृ0 15

सौन्दर्य बोध सम्बन्धी अनेक ऐसे सार्वभौम और सार्वजनीय सौन्दर्य नियमों की उद्भावना हुई है जो निर्पेक्ष सत्य की तरह शाश्वत और काल निर्पेक्ष है। मानव साहित्य का स्थाई तथा जीवंत विरासत है। चौहान के समीक्षा सिद्धान्त सम्बन्धी मान्यताओं को लेकर यही कहा जा सकता है कि उन्होंने रस सिद्धान्त के प्रति स्वतन्त्र स्थापना की । वे आचार्य शुक्ल की साधारणीकरण सम्बन्धी मान्यताओं से सहमत रहे और अन्य मान्यताओं का खण्डन करते हुए लिखा है "हमारा विचार है कि साधारणीकरण रसोद्बोधन की प्रक्रिया का अंग भूत होने के साथ ही प्रेषण की प्रक्रिया का भी अंगभूत व्यापार ही है। उसे एक स्वतन्त्र सिद्धान्त की संज्ञा देना गलत है।[1] इस प्रकार उनकी दृष्टि में रस कला निर्मित एवं उसके आस्वादन का एक संश्लिष्ट रूप ही सिद्ध होता है। इसके अतिरिक्त अन्य काव्यशास्त्रीय सिद्धान्तों का प्रस्तुत कृति में उन्होंने विवेचन किया है। वे इन सिद्धान्तों में सार्वजनीन, सार्वभौतिक सौन्दर्य नियमों की परिकल्पना करते हैं। किसी ऐसे सौन्दर्य पर शास्त्र की स्थापना से उन्हें चिढ़ है जिसमें केवल पूरा भाववाद हो। वस्तुपरक, सौन्दर्यशास्त्र की स्थापना उन्हें स्वीकार है। जिसमें भारतीय काव्यशास्त्र परम्परा उन्हें सुदृढ़, सुसमृद्ध दिखायी पड़ती है।

पाश्चात्य काव्य शास्त्र परम्परा पर विचार करते हुए श्री चौहान ने नित्य उभरने वाले साहित्यिक वादों को विश्लेषित किया है। उनका मत है कि पिछले सौ वर्षों में विज्ञान, दर्शन, समाजशास्त्र, जीवविज्ञान और मनोविज्ञान के विविध क्षेत्रों का अन्वेषण हुआ है। परन्तु सार्वभौमिक सौन्दर्य नियमों की

---

[1] आलोचना के सिद्धान्त, पृ0 42

वस्तुस्थिति पर बहुत कम विचार हुआ है।[1] श्री चौहान साहित्यिक वादों के हेरफेर में विश्वास नहीं करते। उन्होंने साहित्यिक आधार को जनवादी मूल्यों में समांजित कर दिया है उन्होंने मार्क्सवादी दर्शन के आधार पर द्वन्द्ववादी सिद्धान्त को भारतीय एवं पाश्चात्यशास्त्र के मूल में व्यंजित किया है। समाज व्यवस्था पर उनकी दृष्टि शैल्पिक ज्ञान के साथ टिकी रही है। प्राचीन एवं अर्वाचीन काव्यशास्त्रियों की मान्यताओं की परिधि में श्री चौहान ने समाजवादी संरचना को महत्व दिया। काल सापेक्ष साहित्यिक महत्ता का आधार उनके सिद्धान्त में परिपुष्ट है। उन्होंने विविध क्षेत्रों में समाजवादी भूमिका में अनुसंधानित कार्य कर साम्यवादी तरीके को महत्ता प्रदान की है।

श्री चौहान की समीक्षात्मक मान्यताओं में मार्क्सवादी विचारणा प्रमुख है। उन्होंने साहित्य के अछूते पहलू को प्रकाशित करते हुए समाजवादी मान पर बल दिया है।[2] संस्कृतियों एवं सभ्यताओं के बीच विभिन्न धर्मो, दार्शनिक विचार धाराओं आदि के साथ सहअस्तित्व करना युग की मांग है। श्री चौहान का कथन है कि मानवीय जीवन का नियमन करने वाला सिद्धान्त इतना व्यापक हो कि उसमें वह भौतिक और आध्यात्मिक दोनों क्षेत्रों में समान रूप से विकास कर सके। अर्थात् मनुष्य के भौतिक और आध्यात्मिक आवश्यकताओं में से किसी की उपेक्षा न हो।

---

[1] आलोचना के सिद्धान्त, पृ0 82

[2] आलोचना के मान, पृ0 122

श्री चौहान स्वस्थ समाजशास्त्रीयता का आधार समीक्षा का मान मानते हैं। उनका मत है कि "प्रगतिवाद के दृष्टिकोण की विकृति जब कुत्सित समाजशास्त्रीयता के रूप में हुई तो साहित्यकार व्यापक उद्देश्य जीवन सत्ता का बैविध्यपूर्ण और मूर्ति चित्रण न कर केवल वर्ग संघर्ष को चित्रित करना भर हो गया और समीक्षा का उद्देश्य रचना की वस्तु और रूप तत्वों की जांच परख के बाद उसका मूल्यांकन करना न रहकर केवल विशेष मतवादी दृष्टिकोण के चौखटे में ठूंसठांस कर घेरी गयी वस्तु का विश्लेषण करना भर हो गया। इस प्रकार यदि एक ओर साहित्य दृष्टि संकीर्ण हुई तो दूसरी ओर निम्न कोटि की रचनायें भी विशेष उद्देश्य को कथा या कविता के रूप में पेश करने के कारण सराही गयीं।[1] विविध मान्यताओं के आधार पर साहित्य की रूपरेखा का समाजवादी मूल्य प्रो० चौहान ने गत्यात्मक बनाया है। यह गत्यात्मक सम्बन्ध संस्कृति तथा राजनीति के आधृत रूपों को ओढ़े हुये हैं। वस्तुनिष्ठता साहित्यकार की एक विलक्षण सूझबूझ है, जिसमें वह सामाजिक सौन्दर्य बोध और साहित्यिक मानों को परखता चलता है। वर्तमान काल के साहित्य में कलात्मक मान पिछलगुये हो गये हैं। प्रतिक्रियावादी समालोचक साहित्यिक मान पर जोर देते हुए साहित्य की दृष्टि से देखने के पक्षपाती हैं। श्री चौहान विचारधारा के अनुभूत्यात्मक सत्य को बहुपरीक्षित सम्वेदना में देखने के पक्षधर हैं। मनुष्य साहित्यिक प्रक्रिया को समाजवादी बनाना चाहता है, जिसकी भावभूमि और मनोभूमि समाज की चरम स्थितियों से जुड़ी होती है।

---

[1] आलोचना के मान, प० 38–39

साहित्यकार, युग का अधिष्ठाता है। इतिहास क्रम के विकास में साहित्य युग सत्य को उभारकर सामने लाता है, इस कारण यह चित्रण साहित्यकारों के माध्यम से ही सम्भव है। श्री चौहान साहित्यिक काव्य में ऐसे यथार्थ को जुड़ जाने की व्यवस्था पर बल देते हैं, जिसमें समाज और जनजीवन के अंगीअंग सम्मिलित बने रहें। व्यक्ति की विचारधारा जनवादी क्रान्ति से इस तरह सम्पृक्त है कि उसे परिस्थितियों से अलग नहीं किया जा सकता। श्री चौहान का मन्तव्य है कि समीक्षा का समाजशास्त्रीय मान व्यापक और उदार हो।[1]

देशकाल की विशिष्ट परिस्थितियों में साहित्यकार जनवादी चेतना को आगे बढ़ाता है। क्रिया–प्रतिक्रिया उसे आगे पीछे धकेला करती है। फिर भी वह सक्रिय अस्तित्व को बनाये रखता है। जन जीवन का जनतान्त्रिक तरीके से वह विकास करता है। समीक्षा सोद्देश्य लोकहित वादी होकर समाज संरचना को वस्तुनिष्ठ बनाती है। भावबोध के प्रति श्री चौहान की प्रतिक्रिया रही है। उन्होंने कोरे रसवाद को मानवतावादी धरातल पर मोथरा सिद्ध किया है। वे लोकहितवादी है तथा उत्क्रान्ति के प्रति अन्वेषी हैं। उनका वृहद आयामी दृष्टिकोण समाज साहित्य, संस्कृति के तथ्यपरक स्वरूप से जुड़ा हुआ है। श्री चौहान को साहित्य के ठोस धरातल की पहचान है।

---

[1] आलोचना के मान, पृ0 138

मार्क्सवादी समीक्षा के तहत श्री चौहान ने आज के हिन्दी साहित्य को अनुशीलित किया है। श्री चौहान भी इस कृति में स्वीकार करते हैं कि महान कला की टैकनिक समाजवादी विचारधारा के अनुकूल होती है।[1] विचारधारा के सीधे सम्पर्क में आकर आज का साहित्य अनुभूति और अभिव्यक्ति की भंगिमा पर विचार न कर समाजवादी अवधारणा को प्रबल बनाता है। सामाजिक काव्य मार्क्सवाद की दार्शनिक प्रतिपत्ति है। लोक पक्ष एवं जन जीवन को जिस सीमा तक उसमें आत्मसात किया है, उसमें लोक वृत्ति को एक ओर विशिष्ट महत्व दिया है तो दूसरी ओर मनुष्यता का सही परिचय दिया है। जिस समाज में अन्याय और अत्याचार का दमन साहित्यकार अपनी कृतियों के माध्यम से उभरते और होते हुए दिखाते हैं। वह समाज साहित्य की चित्रमय शैल्पिक योजना का प्रतीक होता है। श्री चौहान ने आज के साहित्य में उसी कवि या लेखक को अधिक श्रेष्ठ माना है जो जनजीवन को प्रधानता देता चला है। सामाजिक और सांस्कृतिक रूपों को वैविध्यपूर्ण चित्र देने वाले साहित्यकार लोक प्रवृत्ति को पहचानते हैं। जनजीवन में मान्य करने के कारण समीक्षा वृत्ति विचारधारा के बहुत निकट पहुंच जाती है। प्रस्तुत कृति में श्री चौहान के जनजीवन का साहित्यिक आधार ही आज के साहित्य रूपों में मान्य रहा है। जहां कहीं वह छूटता हुआ या तिरोहित होता हुआ दृष्टिगोचर हुआ है वहां उन्होंने उसकी तीव्र भर्त्सना की है। आज साहित्यिक मान वैज्ञानिक अन्तर्दृष्टि को अपने में

---

[1] आस का हिन्दी साहित्य, पृ0 8

समायोजित किये हुये है। फलस्वरूप साहित्य का अध्ययन सामाजिक जीवन के सत्य को जानने और उसके विकास नियमों का उद्घाटन करने में प्रवृत्त है।

श्री चौहान समाजशास्त्रीय पहले समीक्षक हैं, जिन्होंने काव्यशास्त्र के उलझनपूर्ण तथा गहन मनन की अपेक्षा रखने वाले शाश्वत काव्यशास्त्रीय प्रश्नों पर संतुलित प्रगतिवादी दृष्टि से विचार किया है। उन्होंने प्राचीन भारतीय काव्यशास्त्र के मूलभूत सिद्धान्तों का विवेचन करते हुए मार्क्सवादी विवेचना को, स्थापना को भौतिकवादी द्वन्द्व के साथ निरूपित किया है। इनका मत है कि रसवाद मार्क्सवाद के विरोध में नहीं आता क्योंकि उनकी दृष्टि में ये सभी सिद्धान्त मार्क्सवाद का पोषण प्राप्त करते हैं, जिनके द्वारा मानवीय भाव चेतना अधिक सम्पन्न और वैभवशाली बनती है।[1] भारतीय काव्यशास्त्र के सिद्धान्त उन्हें किसी न किसी रूप में स्वीकार है। श्री चौहान में अन्य समाजशास्त्रीय समीक्षकों जैसी हठवादिता का आग्रह नहीं है। उन्होंने समाजशास्त्र और सौन्दर्यशास्त्र का समन्वय करके साहित्य के मूल्यों की अन्वेषणा की जिससे जनता में उनकी अमिट आस्था चली गयी। रस के सम्बन्ध में उनका उदार दृष्टिकोण सर्वग्राही हो सकता है। उनका मत है कि जब हम यान्त्रिक पद्धति से सोचते हैं तभी रस सिद्धान्त हमें मार्क्सवादी सौन्दर्य शास्त्रीय मान्यताओं के विपरीत जाता दिखाई देता है। सामान्यतः ऐसा नहीं, वह यह अवश्य मानते हैं कि अब तक की व्यख्यायें

---

[1] साहित्य की परख, पृ0 24

भावुकवादी हैं, जिनमें रस को निष्क्रियतावादी घोषित किया था। आज रस की वैज्ञानिक व्याख्या होनी चाहिए जो उसे यथार्थवादी आधार दे सके।[1]

'साहित्य की परख' कृति में श्री चौहान का मूलाधार समाजशास्त्रीय ही रहा है। उन्होंने साहित्य का विवेचन करते हुए तत्कालीन जीवन के आदर्श का उसे परिणाम माना है और बताया है कि साहित्य जीवन या समाज के अभिन्न अंग के रूप में प्रतिबिम्बित होता है। अर्थ व्यवस्था और संस्कृति से जुड़कर श्री चौहान ने यह परिणाम निकाला कि आज देश और समाज के बाहरी और भीतरी जीवन में प्रत्यक्ष एवं परोक्ष परिवर्तन हो रहे हैं। अतः किसी भी साहित्यिक प्रकृति को पूरा–पूरा किसी दूसरे देश के राजनैतिक या साहित्यिक क्षेत्र का प्रभाव कहना समीचीन ही है। उनका ऐतिहासिक काव्य शास्त्रीय दृष्टिकोण साहित्य की परख के निमित्त मूलतः वस्तुवादी ही है।

प्रस्तुत आलोच्य ग्रंथ में साहित्य और मूल्यांकन क्रमशः दो खण्ड करते हुए श्री चौहान ने कृति की भूमिका में ही यह स्पष्ट कर दिया है "जितनी कृतियाँ की समीक्षायें यहां हैं वे हर मेल और प्रकृति की हैं उन्हें पढ़कर पाठकों को साहित्य के मूल्यांकन की एक वैज्ञानिक किन्तु रसज्ञ दृष्टि और पद्धति का ज्ञान अवश्य हो जायेगा।[2] मूल्यवादी समीक्षा साहित्य का बोध गहरा और व्यापक बनाती हैं साहित्य या कला के मूल्यांकन के लिए समाज सापेक्षता मूलक समालोचना दृष्टि अनिवार्य है। साहित्य या कला मनुष्य के लिये समाज सापेक्षता

---

[1] साहित्य संदेश, पृ0 23–24
[2] साहित्यानुशीलन, पृ0 ख

मूलक समालोचना दृष्टि अनिवार्य है। साहित्य या कला मनुष्य की संस्कृति का सर्वोत्कृष्ट सार भाग है। केवल इतना ही नहीं युगान्तर से व्यष्टि और समष्टि आत्म और प्रवृत्ति में जो मौलिक और प्रगति मूलक क्रिया प्रतिक्रियात्मक संघर्ष अनवरत चलता आया है और चलता जायेगा। आज जिसके परिणाम स्वरूप ही मनुष्य का जीवन बुद्धिमान है।

श्री चौहान अपनी अभीप्सा को प्रकट करते हुए कहते हैं कि आर्थिक शोषण और साम्राज्यवाद को मिटाकर जो जनवादी समाज निर्मित होगा, उसके समाजवादी आर्थिक सम्बन्ध उस पीठिका का कार्य करेंगे, जिसपर नये मानव की मूर्ति का संस्थापन किया जायेगा। अर्थात् वह ऐसी संस्कृति होगी जो व्यक्ति के पूर्ण आत्म विकास या आत्मसिद्धि का सहज साधन उपकरण बन सके और इस प्रकार व्यक्ति और समाज के जीवन को समृद्ध बना सके।[1] आज के संघर्ष युग से यह स्पष्ट हो गया है कि जनवाद या समाजवाद से निर्माण युग में सांस्कृतिक समस्यायें एक सूत्र में बंधी हुई हैं। प्रत्येक साहित्यकार व आलोचक उन मानव मूल्यों के निरूपण तथा समन्वय का है, जो एक व्यापक सौन्दर्य मूलक, सामायिक दृष्टिकोण की व्यापकता प्रदान कर सके। अतः कला और साहित्य को जन सुलभ बनाने वाली शिक्षण नीति का प्रश्न ही इससे सम्बन्धित है।

प्रस्तुत ग्रंथ में विविध समीक्षात्मक लेखों का ऐतिहासिक द्वन्द्ववाद के आधार पर विवेचन करते हुए श्री चौहान ने साहित्य और कला के सृष्टा को

---

[1] साहित्यानुशीलन, पृ0 3

समकालीन जीवन की झाँकी का प्रस्तुतकर्ता बताया है। आज की समीक्षा साहित्य के मूल उद्‌भव की प्रक्रिया की पड़ताल करती है तथा कला और जीवन के परस्पर सम्बन्ध का निर्माण करती है। वस्तुगत सौन्दर्य मूल्यों का निरूपण करना समाज के निर्माण संघर्ष में सहयोग देना साहित्य कला और समीक्षा का धर्म है। श्री चौहान ने अपने विभिन्न निबन्धों में जिन विभिन्न प्रवृत्तियों की ओर संकेत किया है उनको हम चार दृष्टियों, वर्गो या प्रवृत्तियों में विभाजित कर सकते हैं।

पहला युग उन अध्यापकों का है जो पुराने दरो के शास्त्रीय आलोचना की लकींरें पीट रहे हैं। दूसरा युग विधायक आलोचक का है, जिन्होंने परम्परावादी मान्यताओं का आज के आलोक में देखा है और तीसरा उन साहित्यिक आलोचकों की प्रवृत्ति पर प्रकाश डालता है जो आधुनिक मनोविज्ञान के आधार पर साहित्य का मूल्यांकन करते हुए कला सृजन में व्यक्ति के अहं और अवचेतन का विश्लेषण करते हैं तथा चौथा वर्ग समाजवादी भौतिकवादी विचारधारा को आत्मसात करके जन आन्दोलन को आगे बढ़ाने का कार्य करता है। श्री चौहान का मत है कि प्रगतिवाद यदि किसी लेखक के सामन्जस्य सूत्रों को प्रकाश में लाता है...............तो वह उस रचना द्वारा समाज की बदलती परिस्थितियों पर पड़े प्रभावों का भी मूल्यांकन करता है।[1]

सामाजिक परिस्थितियों का विवेचन तथा सामाजिक पृष्ठिभूमि का दिग्दर्शन, कवि या लेखक समाज की वास्तविकता के अनुसार साहित्य में

---

[1] साहित्यानुशीलन, पृ0 73

प्रतिबिम्बित कराता है। साहित्यकता की कोई कृति अपने समय की वास्तविकता का निष्क्रिय प्रतिबिम्ब भाव नहीं होती उसमें परिवर्तित परिस्थितियों में भिन्न–भिन्न प्रभाव सम्मिलित होते हैं। इस प्रकार साहित्य लोचन को प्रथम वाद श्री चौहान ने एक वैज्ञानिक जीवनदर्शन कहा, जिससे हमें साहित्य को सामाजिक क्रिया का एक विशिष्ट पर अभिन्न अंग समझने में सुविधा हुई है। प्रगतिवाद अपनी द्वन्द्वात्मक प्रणाली के अनुसार समाज की अवधारणा करता है और द्वन्द्वात्मक अन्विति से सौन्दर्य और जीवन के मूल्य बनाने में सुविधाग्राही होता है। जिसके कारण मनुष्य के सामाजिक और व्यक्तिगत जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में कला और साहित्य का इतना अधिक महत्व है।

श्री चौहान की यह कृति साहित्य भाषा और परिशिष्ट तीन खण्डों में विभक्त है। जिनमें क्रमशः साहित्य को इतिहासपरक मूल्यों की मानव की प्रतिष्ठा में विवेचित किया गया है। भाषा सम्बन्धी जनपदीय बोलियों को राष्ट्रभाषा सम्बन्धी विवादों को भी सुलझाने का यह प्रयत्न चौहान ने सराहनीय किया है। भारतीय जनताने अपने जीवन में सनातन मूल्यों को पाने के लिए संघर्ष किया और हमारे सत्यान्वेषी साहित्यकारों ने क्रमशः व्यक्ति पात्रों के माध्यम से मानव सम्बन्धों को एक उच्चतर सामंजस्य स्थापित करने के रूप में इन मूल्यों को मूर्त अभिव्यक्ति दी। श्री चौहान का मत है कि समाज व्यक्तियों से मिलकर ही बनता है। हम जो भी कुछ हो मजदूर, किसान, डाक्टर, वैज्ञानिक, शिक्षक, लेखक, कलाकार सभी समाज के अंग हैं। हम सबके विभिन्न व्यवसायों और कार्यो की

सार्थकता समाज के कारण ही हैं। अपने कार्यो से हम समाज को आगे ले जाते हैं, क्योंकि हम ही समाज हैं।[1]

व्यष्टि और समष्टि के बीच सामन्जस्य स्थापित करने की समस्या जनवाद की समस्या है क्योंकि व्यक्ति के व्यक्तित्व का विकास और सामाजिक जीवन का विकास परस्पर सम्बद्ध है। व्यष्टि और समष्टि की समस्या के अनेक रूप हैं। जीवन के हर क्षेत्र में इस समस्या का नया समाधान जरूरी है। युगान्तकारी परिवर्तन मानव युग का उद्‌भव करने में सफलीभूत है। यही इस युग की केन्द्रीय वास्तविकता है। इस वास्तविकता को इतिहास और कला में प्रतिबिम्बित करने की समस्या को श्री चौहान ने साहित्यकार की सबसे बुनियादी समस्या स्वीकार किया है।[2] महान यथार्थवादी साहित्य में कला एवं भावपक्ष दोनों ही प्रगतिशील होते हैं। यथार्थवाद कलाहीन मानव अनुभूतियों से शून्य, नीरस साहित्य की रचना नहीं है। जनवाद का पर्याय समाजवादी का नाम ही यथार्थवाद है। विश्व साहित्य का परिणाम है कि यथार्थवादी साहित्य महान दिग्गज विद्वानों की सृष्टि है। श्री चौहान लिखते है, प्रतिभा के बिना वास्तविकता का वैविध्यपूर्ण मूर्त और सारवन कलात्मक चित्रण असम्भव है। ऐसे पात्रों की सृष्टि करना सम्भव है, जो अपने युग के प्रतिनिधि हों और उनके जीवन व्यापारों से ऐसी नैतिकता

---

[1] साहित्य की समस्यायें, पृ0 7
[2] साहित्य की समस्यायें, पृ0 63

को जन्म देना सम्भव है, जो ऐतिहासिक दृष्टि से अपने युग की प्रगतिशील मानवता के मंगल के साधक हों, बाधक नहीं।[1]

यथार्थवादी साहित्य में अनेक प्रश्नों पर विचार होता है और उनमें सबसे प्रमुख हैं ऐतिहासिक परिस्थितियों और चरित्रों का विश्लेषण। इस यथार्थवादी कला साहित्य में समाजगत और व्यक्तिगत विशेषताये उस सीमा तक पूंजीभूत हो जाती हैं, जिसे समाज और व्यक्तियों के परस्पर सम्बन्ध और समाज के भीतर चलने वाले आन्तरिक वर्गो के संघर्ष आर्थिक सम्बन्ध से उत्पन्न परिस्थितियाँ और उनके प्रति प्रतिक्रिया आदि का सम्यक निरूपण हो सके। प्रगतिशील समीक्षक को यथार्थवाद में यह भी दिखाना होता है कि विकासशील एवं ह्रासशील शक्तियाँ कौन सी हैं और साहित्यकार उन्हें ऐतिहासिक विकास के क्रम में दर्शित कर सका या नहीं।

साहित्य में पूर्व मानव की प्रतिष्ठा एक विलक्षण प्रक्रिया है। आधुनिक युग के 80 वर्ष भारतेन्दु हरिश्चन्द्र से लेकर स्वतन्त्र भारत तक के इतिहास को इस कालजयी कृति में व्याख्यायित किया गया है। भारतीय समाज की परिवर्तित स्थिति और यूरोप का अनुकरण के मध्य खड़ा साहित्य किस प्रकार समाजवादी रचना को निर्वाहित कर सका है। इस तथ्य की पुष्टि श्री चौहान ने की है। उनका मन्तव्य है कि हर नयी परिस्थिति में जब पुराने समाज सम्बन्ध और विचार समाज की प्रगति को अवरूद्ध करने लगते हैं और भावी विकास की

---

[1] साहित्य की समस्यायें, पृ0 66

सम्भावनायें समाज के गर्भ में परिपक्व होकर नये जीवन लक्ष्यों की चेतना जगाने और नये मानव उद्योग तथा संघर्ष का आह्वाहन करने लगते हैं, उस समय मनुष्य परिस्थितियों के अन्तर्विरोध से उत्पन्न समस्याओं को समग्र रूप में समझने और सुलझाने तथा नयी प्रेरणा दृष्टि पाने के लिये मानव इतिहास का नये सिरे से अध्ययन करता है।[1]

बहुपरीक्षित सत्य है कि हम इस युग के ऐतिहासिक परिवर्तन को समझें और युग की भावनाओं को नयी प्रेरणा तथा नयी दृष्टि दें तभी साहित्य द्वारा रचनात्मक योग सम्भव है। साहित्यकारों की कृतियों के अध्ययन से उनकी वास्तविकता महत्ता को उद्घाटित करें कि किस प्रकार वर्ग समाज की विशिष्ट परिस्थितियों को जानकर विचार सीमाओं में आबध्य रहते हुए साहित्यकार ने अपनी प्रतिभा से मनुष्य के गत जीवन या परिवर्तन जीवन के सजीव चित्र अंकित किये हैं। इनका कलात्मक सौन्दर्य अर्थ गाम्भीर्य और उदात्त मानवतावादी, नैतिक अन्तःस्वर वर्तमान जीवन की बिडम्बनाओं से संघर्ष करने वाले आधुनिक पाठक को भी प्रेरणा स्फूर्ति, आशा और नयी अन्तर्दृष्टि प्रदान करते हैं। हमारे राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय जीवन का संघर्ष जितना ही तीव्र होता जाता है, सांस्कृतिक विरासत के सही मूल्यांकन का प्रश्न भी उतना ही महत्वपूर्ण होता जाता है। अतः जीवनकाल की विशिष्ट ऐतिहासिक परिस्थितियों से उत्पन्न निर्माणकारी सामाजिक समस्याओं को और उनके प्रति समाज के सभी वर्गो की स्थिति को खुली आंखों से देखकर कहां तक ये कलाकार के वस्तुनिष्ठ दृष्टिकोण से व्यक्ति

---

[1] हिन्दी साहित्य के 80 वर्ष, पृ0 15

चित्रण के माध्यम से समाज के सभी वर्गों के अन्तर्सम्बन्धों को चित्रित किया जाता है। साहित्य कला की यह कसौटी कला के इतिहासों, महान साहित्यकारों, कलाकारों की श्रेष्ठ कृतियों की परम्परा से निर्धारित है। अर्थात् हिन्दी साहित्य के विवेचित अस्सी वर्ष अपनी अस्मिता रखते हैं।

प्रो0 गुप्त ने अभिनव साहित्य में समाजवादी, वैज्ञानिक योगदान स्वीकार किया है। मार्क्स की इस मान्यता को गुप्तजी ने ज्यों का त्यों स्वीकार कर लिया है कि मनुष्य निरन्तर अपने वातावरण से युद्ध करता है। प्रकृति की विराट शक्तियों के विरूद्ध संघर्ष करके अपने में नया बल अनुभव करता है। इस संघर्ष में उत्पन्न हुई अनुभूतियों को वह कलाओं से सजाता है और इस प्रकार काव्य, संगीत, चित्रकला आदि का जन्म होता है।[1] विज्ञान को आधार मानकर चलने वाली मार्क्सवादी मान्यता प्रगतिवादी को भी वैज्ञानिक दृष्टिकोण से समन्वित करती है। मार्क्सवादी दर्शन के अनुसार जब कोई विचार जनता के मन में घर कर लेते हैं तो वह भौतिक शक्ति बन जाते हैं। भौतिक परिस्थितियों और विचारों का सम्बन्ध नींव और उसपर खड़ी इमारत के समान है। यदि आर्थिक और सामाजिक सम्बन्ध नींव है तो ज्ञान विज्ञान कानून दर्शन साहित्य और कला उस नींव के आधार पर खड़ी इमारत के समान है।

कला और साहित्य आर्थिक सम्बन्धों के आधारों पर बने शोषक और शोषित दोनों वर्गों की अनुभूतियों को अव्यक्त करते हैं। शासक वर्ग

---

[1] नया साहित्य 'एक दृष्टि', पृ0 01

उच्चकोटि की कला को अपना माध्यम बनाता है और शोषित वर्ग लोक गीतों आदि को, यह कला का दोहरा रूप नये साहित्य में भी देखा जाता है। प्रो0 गुप्त ने प्राचीन काल में भी इन रूपों का दर्शन करते हुए लिखा है "मनुष्य ने सभ्यता का पहला पाठ सबके साथ मिल बांटकर खाना सीखा, कृषि समाज के साथ भूमि व्यक्ति की सम्पत्ति बनी और समाज दो भांगों में बंट गया एक वर्ग के हाथों में शासन था तो दूसरा शासित था। शताब्दियों से कला शासक वर्ग की भावनाओं की प्रतिबिम्ब रही है क्योंकि शासित वर्ग के पास भावनाओं की अभिव्यक्ति के कोई विशेष साधन नहीं थे। शोषित वर्ग की भावनायें लोकगीतों में और कला के अनुरूपों में प्रसार पाती रहीं, लेकिन यह कला दबी–दबी जीवन यापन करती रही।[1] आधुनिक काव्य को इसी कसौटी पर कसते हुये उन्होंने तत्कालीन कवि और लेखकों को विश्लेषित किया तथा आर्थिक सम्बन्धों की इन ऐतिहासिक मान्यताओं का क्रम वर्तमान काल के साहित्य में परिलक्षित किया।

प्रो0 गुप्त की मार्क्सवादी मान्यता प्रस्तुत कृति में निम्नलिखित उदाहरण से परिपुष्ट होती है–सर्वहारा की सेना आगे बढ़ रही है उसकी विजय निश्चित है विश्व की नयी समाज व्यवस्था शोषण और शोषित दल का सदा के लिए अन्त कर देगी। नवीन संस्कृति इतिहास में पहली बार पूर्णरूप से जनसत्तात्मक होगी। तब आदिमयुग का अन्त होगा और सच्ची सभ्यता का आरम्भ।[2] आर्थिक आधारों का यह विकास इतिहास के प्रति एक नये दृष्टिकोण

---

[1] हिन्दी साहित्य की जनवादी परम्परा, पृ0 197
[2] नया साहित्य, पृ0 5

को जन्म देता है। इस ऐतिहासिक भौतिकवाद के अनुसार सबसे पहले ऐतिहासिक युग की कल्पना की गयी है।

हमारे देश में आजकल यही पूंजीवादी व्यवस्था चल रही है। आज के प्रति प्रगतिशील लेखक का उत्तरदायित्व है कि आगे आने वाली समाज व्यवस्था के लिए भूमिका तैयार करे लेकिन उसे सचेत करते हुये प्रो0 गुप्त लिखते हैं कि वह क्रान्ति की झोंक में संस्कृति के इन तत्वों का भी भुलावा न कर दें और जिन्हें आगे फिर से अपेक्षित माना जाये।

आधुनिक कवियों में कई प्रवृत्तियाँ और दृष्टिकोण हैं। कविता के अतिरिक्त विभिन्न विधाओं में भी इसके कई रूप हैं। वर्तमान युग को संक्रान्ति युग कहा गया है। आधुनिक समाज भयंकर असंगतियों से ग्रस्त है। हर संक्रान्ति युग विकट संघर्ष, वैषम्य, संकट सत्यान्वेषण का युग होता है। उसमें मनुष्य में पुराने समाज विधान का ढांचा उसके विश्वास, उसके नैतिकता, उसके विचार तथा भाव तथा प्रक्रियायें बदलती रहती हैं। प्रो0 गुप्त ने बताया है कि मनुष्य का समूचा विश्वबोध एक नये परिवर्तन के भंवर में पड़ जाता है। ऐसे युगों के कवि और कलाकारों की कृतियों में व्यक्तिगत अभिव्यक्ति या पात्रों के चरित्र चित्रण के माध्यम से वस्तुतः मनुष्य नये विश्वबोध और तत्कालीन जीवन की पुरानी मान्यताओं का विचार संघर्ष प्रतिबिम्बित होता है।[1]

---

[1] नया साहित्य, पृ0 89

आधुनिक साहित्य को समझने के लिए वर्तमान विश्वजनीन परक तथ्यों को ध्यान में रखना होगा, क्योंकि आधुनिक साहित्य के पीछे विश्व परिस्थितियों की प्रबल प्रेरणा है। आधुनिक मानव समाज जिन असंगतियों से ग्रस्त उसमें जो संगठित शक्तियां एक–दूसरे से जूझ रहीं हैं और इनका समस्त वैज्ञानिक आविष्कारों और राष्ट्रीय आन्दोलनों, अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिस्पर्धाओं के लिए परिणाम स्वरूप आज का मानव जिस दशा में अग्रसर है उसकी गतिविधि को प्रभावित करना व्यक्ति की सामर्थ्य के बाहर हो गया है। कवि और कलाकारों की आवाज नक्कारखाने में तूती की आवाज बन गयी है। आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियों पर प्रकाश डालते हुए प्रो0 गुप्त ने वर्तमान विश्व जीवन की तस्वीर बहुत ही निराशाजनक बताई है। इसीलिए आधुनिक साहित्य में खीझ, झुंझलाहट, कुण्ठा, अनास्था, निराशा और मानवद्रोही भावनाओं को तीव्र अभिव्यक्ति मिली है। आधुनिक मानव का विश्वबोध वैषम्य एकाकी चेतना तक ही सीमित हो गया है।

देश और काल के प्रभाव से बचना सम्भव नहीं है। प्रत्येक समाज व्यवस्था अपने आर्थिक सम्बन्धों के अनुरूप विचारों, भावनाओं और अनुभूतियों को एक विशेष दिशा में मोड़ती हैं, एक विशेष सांचे में ढालती हैं। प्रो0 गुप्त ने छायावादी कवियों की समालोचना करते हुए काल और युग का प्रभाव स्पष्ट किया है। ''छायावादी कवियों की प्रेरणा समय के प्रभाव के साथ अधिकाधिक व्यक्तिवादी और अन्तर्मुखी होती गयी। यह स्वाभाविक था क्योंकि विदेशी पूंजीवादी साहित्य और कला का प्रभाव भारत में पड़ रहा था। पूंजीवाद के

अन्तर्गत मनुष्य के सामाजिक सम्बन्ध टूट जाते हैं। व्यक्ति और व्यक्ति का सम्बन्ध टूटकर शक्ति पूंजी का नाता बनता है। तब सामाजिक सम्बन्धों का आधार पूंजी बन जाती है। पूंजीवादी समाज व्यवस्था में पला कवि अपने को अकेला पाकर विकल होता है और उसका भाव कविता में भर जाता है।[1]

आर्थिक सम्बन्धों की ऐतिहासिक मान्यताओं का क्रम आदि युग से लेकर वर्तमान काल तक इस कृति में स्पष्ट किया गया है और भारतवर्ष के संदर्भ में यह आशा की गयी है कि यहां पर भी सर्वहारा क्रान्ति के द्वारा वर्ग विभाजित समाज व्यवस्था को नष्ट करके समाज की रचना होगी।

प्रो0 गुप्त की प्रस्तुत पुस्तक में समीक्षात्मक निबन्धों में उन्तीस शीर्षक हैं, जिसमें मार्क्सवाद और साहित्य, प्राचीन कवि और अधुनातम कवि और लेखक तथा भाषा सम्बन्धी निबन्ध विशेष हैं। साहित्य की मार्क्सवादी व्याख्या करते हुए प्रो0 गुप्त लिखते हैं कि मार्क्सवाद मनुष्य की जीवन समाज और संस्कृति को समझने की नयी दृष्टि प्रदान करता है। संसार इतिहास को देखने और परखने का मानों यह एक नया अन्वीक्षण ज्ञान हमें दिया गया है। मार्क्सवाद कोई एक विशेष सुदृढ़ मंत्र नहीं है। यह सतत् विकासमान दर्शन और वैज्ञानिक दृष्टि है।[2] मार्क्सवादी दर्शन के अनुसार जीवन सतत् गतिशील और परिवर्तनशील है और तदनुसार साहित्य और कला में भी हम इन परिवर्तनों की छाया देखते हैं। ज्ञान–विज्ञान की संस्कृति के अनुभूत्यात्मक सत्य के साथ साहित्य और कला

---

[1] हिन्दी साहित्य की जनवादी परम्परा, पृ0 147

[2] साहित्य धारा, पृ0 01

में परिवर्तनों की अभिव्यक्ति होती है। मनुष्य के विचार भी भौतिक परिस्थितियों को बदलने में महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं। मार्क्सवादी दर्शन के अनुसार जब कोई विचार जनता के मन में घर कर लेते हैं तब एक भौतिक शक्ति बन जाती है।

सामाजिक यथार्थवाद की अभिव्यक्ति साहित्य कला में सदैव होती रही है। सूक्ष्म मानवीय अनुभूतियों और कोमल कल्पनाओं की अभिव्यक्ति कला में ही होती है। साहित्य का रूप नये युग परिस्थितियों में विभक्त होता रहता है। अभिव्यक्ति के साधनों पर अधिकार प्राप्त करना एक लम्बी प्रक्रिया है। उसके पीछे सम्पूर्ण इतिहास और मानवीय सभ्यता है। श्री गुप्त का कथन है कि मनुष्य ने भाषा पर अधिकार प्राप्त किया, उसे शब्द समूह में समझना सीखा, उसमें ताल, लय और संगीत का मिश्रण किया। उपमायें गढ़ी। इतिहास की गति ने इन सभी साधनों का विकास और परिष्कार किया है।[1] इस कलात्मक उत्तराधिकार से अनुभव में सदा नई कड़ियां जुड़ती रहीं हैं। अभिव्यक्ति के साधनों पर कलाकार के अधिकार से तात्पर्य यह है कि उसकी कला एक व्यापक मानव समूह पर गहरा और स्थाई प्रभाव डाल सके। मुख्यतः यह उसकी जीवन दृष्टि और संवेदनशीलता पर निर्भर है, किन्तु इसमें भाषा, संगीत आदि का भी कम महत्व नहीं है। प्रो0 गुप्त जनकवि तुलसीदास तथा कबीर को भी समाजवादी विकास से विश्लेषित करते हैं, उनका मत है कि "भक्त कवियों में तुलसी और कबीर के काव्य का सामाजिक तत्व प्रत्यक्ष है। तुलसी ने कलिकाल की व्याधियों से जनता

---

[1] साहित्य धारा, पृ0 05

को मुक्त करने के लिये मानस की रचना की और उधर संत कवि कबीर की विद्रोही आत्मा मुखरित हो उठी। कबीर ने निरन्तर पाखण्ड, अत्याचार और रूढ़ियों का विरोध किया है। धर्म के आडम्बर पण्डों और महन्तों का उन्होंने तिरस्कार किया है।[1]

मध्यकालीन भारतीय समाज में इतिहास आधारभूत परिवर्तनों की मांग कर रहा था। भारतीय जनता दैन्य, गरीबी, महामारी तथा अकाल में पिस रही थी मुक्त सम्राटों के वैभव और विलास के नीचे त्रसित जनता का सदन तथा क्रन्दन निरन्तर कवियों के हृदय में हिलोरित हो रहा था। इसी अन्तर प्रेरणा से कवि जनमानस सामाजिक पीड़ा को लेकर फूट पड़ा। प्राचीन कला संस्कृति और साहित्य का इस प्रकार प्रो0 गुप्त ने समाजवादी भूमिका पर विश्लेषण किया है।

मुंशी प्रेमचन्द जैसे लेखक, कथाकार के साहित्य को उन्होंने अपने इस आलोच्य ग्रंथ में प्रतिष्ठित किया है। प्रेमचन्द का साहित्य भारत के राष्ट्रीय नव जागरण का इतिहास है। उनके साहित्य में भारतीय जीवन के सामाजिक और राजनैतिक द्वन्द्व बराबर मिलते हैं। प्रो0 गुप्त प्रेमचन्द के साहित्यिक और तत्कालीन सामाजिक जीवन पर विचार करते हुये लिखते हैं–"अनन्त जीवन भार और व्यथा से प्रेमचन्द का साहित्य आकुल है। ऐसा विराट व्यापक चित्र आधुनिक साहित्य में अन्यत्र दुर्लभ है"।[2] प्रो0 गुप्त ने हिन्दी साहित्य के क्रान्ति दर्शी कवि

---

[1] साहित्य धारा, पृ0 61
[2] साहित्य धारा, पृ0 75

लेखक को प्रस्तुत कृति में संजोया है वे कवि लेखक हैं—तुलसीदास, कबीरदास, भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, प्रेमचन्द आदि।

श्री शिवदान सिंह चौहान एवं प्रो0 प्रकाश चन्द्र गुप्त ने साहित्य में युग विशेष और अनुभूतिशील कवि और लेखकों की भावनायें प्रकट की हैं। साहित्य के पूर्ण प्रस्फुटन में अनेक बाधक सामाजिक परिस्थितियों को उन्होंने समीक्षात्मक निबन्धों में लिखा है। साहित्य और समाज का चिरमान सम्बन्ध प्रतिष्ठित करना भी इनका उद्देश्य रहा है। आज के नये लेखक में साहित्यिक प्रवृत्ति की अन्वेषणा तक का गुरू कार्य उन्होंने सम्हाला है। सामाजिक यथार्थ को चित्रित करने वाले और प्रगतिशील शक्तियों को उन्होंने अपने लेखों में उतारा है।

(ख) समीक्षा दर्शन :

मार्क्सवादी साहित्य दर्शन यथार्थपरक वस्तुनिष्ठता में विश्वास करता है। आधुनिक परिस्थिति में समष्टिगत दृष्टिकोण समाजवादी नवीन मानदण्डों का परिचायक है। यह श्रमिक वर्ग को समाजवादी आदर्शो में ढालने का उपक्रम करता है तथा उनके संघर्षरत जीवन के यथार्थ स्वरूप को विकसित करने की अनुशंसा करता है। समाजशास्त्रीय समीक्षा का दृष्टिकोण प्रस्तुत अध्याय में विवेचित हैं। समीक्षक श्री शिवदान सिंह चौहान एवं प्रो0 प्रकाश चन्द्र गुप्त मानवतावादी अर्थवत्ता से प्रतिबद्ध हैं। जिन्होंने युग की प्रतिनिधि परिस्थितियों में प्रतिनिधि विचारकों के साथ समीक्षा साहित्य को वैचारिक क्रान्ति प्रदान की है। अधोलिखित संकेतों के आधार पर इनके समीक्षा–दर्शन को विवेचित किया जा सकता है।

मार्क्सवादी साहित्य चिन्तन का चतुर्मुखी स्वरूप द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी अवधारणा में दृष्टिगत होता है। मार्क्स की विचारधारा का विश्वव्यापी गहरा प्रभाव है। मनुष्य के आर्थिक, समाजिक, राजनैतिक, सांस्कृतिक विचार बिन्दु मार्क्सवाद के युगान्तवादी प्रभाव से अछूता न रह सका। श्री चौहान स्पष्ट करते हैं कि विश्व की कोटि–कोटि जनता को पुराने अमानवीय वर्ग समाज के अन्याय, अनैतिकता, हिंसा, शोषण और उत्पीड़न का संघ के लिए अन्त करके एक सच्चे वर्गयुक्त शोषणयुक्त, हिंसायुक्त और स्वस्थ मानवीय जनसमाज साम्यवादी जीवन का निर्माण करने का एक मात्र सही और वैज्ञानिक मार्ग

दिखाकर कार्लमार्क्स युग के लिए समूची मानव जाति की श्रद्धा और कृतज्ञता के पात्र बन गये हैं।[1] युगीन जन परिस्थितियों में जनवादी और स्थाई विश्व शांति के लिये एक विकट संघर्ष चल रहा है। मार्क्स की विचारधारा से प्रभावित इतने विशाल भू–भाग पर वर्गयुक्त समाजवादी तथा नये जनवादी सामाजिक जीवन का निर्माण और अन्यत्र उसकी प्राप्ति के लिऐ होने वाला अविराम संघर्ष ही इस युग की केन्द्रीय वास्तविकता है।

विश्व के साहित्य और कला को इस मानवीय संघर्ष और कला से तथा निर्माण से कितनी महान रचनात्मक प्रेरणायें मिली हैं, इसका सहज ही अनुमान किया जा सकता है। कोई कला और साहित्य वास्तविकता को ही प्रतिबोध करती हैं। कार्लमार्क्स ने द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद का स्वरूप विश्लेषित करते हुए लिखा है :–

It is well know that cortain periods of highest development of arts state in no direct on conception with the general development society nor with material basis and the sketon structure of its organization.[2]

साहित्य द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद की सम्पत्ति है। आधुनिक समाज नया कला रूप गढ़ रहा है। जिनके माध्यम से मनुष्य श्रोता अथवा दर्शक वर्ग पर व्यापक प्रभाव डाल रहा है। पूंजीवादी व्यवस्था के अन्तर्गत विज्ञान के इन अपूर्व

---

[1] साहित्यानुशीलन, पृ0 22
[2] Literature and Art, Page. 16

आविष्कारों का प्रयोग लाभ अथवा राजनैतिक स्वार्थ के लिए शासक वर्ग ने किया है। जनसाधारण के निरन्तर उठते हुए सांस्कृतिक स्तर को ध्यान में रखते हुए हम यह भी कह सकते हैं कि मार्क्स के द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद ने सामाजिक जीवन को यथा सम्भव चित्रित कर दिया है। प्रो0 गुप्त का कथन है कि नये समाज का साहित्य नया सौन्दर्य बोध भी साथ लाता है। यद्यपि साहित्य सदैव ही सामाजिक जीवन को चित्रित करता है। मानवीय अनुभूतियों भावनाओं और संवेदनाओं को स्वर देता है तथा संशलिष्ट यथार्थ की बेहतर समझ पाठक को ही देता है।

मार्क्सवादी विचारधारा की निरन्तर बढ़ती हुई विश्वव्यापी महत्ता और मान्यता का रहस्य केवल यह है कि मार्क्स ने अपनी अद्भूत प्रतिमा का कभी दुरूपयोग नहीं किया। मनुष्यकृत साहित्य, कला संस्कृति, दर्शन, विज्ञान विचार धाराओं सामाजिक जीवन और अर्थ व्यवस्थाओं की पूंजीभूत ज्ञान राशि का अध्ययन उनका इतना परिपूर्ण और विशाल था कि वह सहज ही उनके प्राणवन्त सजीव तत्वों को खोज लेते थे और जीवन की वास्तविकता में निरन्तर होने वाले परिवर्तनों के मूल कारणों का अपनी द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी प्रणाली से सहज ही उद्घाटन कर सकने में सफल थे। उनके यहां द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी प्रणाली ही आज प्रगतिशील और सही अर्थो में वैज्ञानिक प्रणाली है।

प्रो0 गुप्त ने मार्क्सवादी द्वन्द्वात्मक को समझाते हुए कहा है कि मार्क्स के दृष्टिकोण की यह विशेषता है कि वह जगत को और मानव जीवन को

शोषण से मुक्त इसकी सम्पदा को सर्वजनित सुलभ और समाज को समृद्ध तथा प्रगतिशील बनाने के लिए इसके वर्तमान आर्थिक, सामाजिक सम्बन्धों, नैतिक मान्यताओं तथा सौन्दर्यमूल्यों को बदलने का लक्ष्य और कार्य बताता है।[1] जगत का द्वन्द्ववाद प्रो0 गुप्त को मान्य है। दो विरोधी तत्वों से मिलकर जगत बना है, इसमें सतत् संघर्ष चला करता है। इसमें एक शक्ति हमें पीछे खींचती है तो दूसरी आगे ले जाती है। समाज व्यवस्था उत्पादन के साधनों पर आधारित होती है। उत्पादनों के साधनों के बदल जाने से समाज में क्रान्ति हो जाती है और समाज बदल जाता है। फिर जब धीरे–धीरे यह व्यवस्था जड़ होने लगती है तो दूसरी क्रान्ति आती है और उसे जड़ बना देती है। विकास का यह क्रम चलता रहता है, साहित्य इस क्रम को समझकर आगे बढ़ता है।

विकास के लिए मनुष्य को वातावरण से संघर्ष करना पड़ता है। संघर्ष का परिणाम प्रकृति को अपने वश में करना होता है, इस नये अनुभव से जो ज्ञान मिलता है, उसी को साहित्यकार अपने साहित्य में संजोता है। प्रो0 गुप्त ने जनवादी परम्परा के संदर्भ को छूकर कहा है कि सामाजिक सम्बन्ध एक हद तक स्थिर हो जाते हैं, उन्हें बदलने के लिये क्रान्ति करनी होती है, जो समाज आज विकास के पथ पर है, कल जड़ और अचल होकर पिछड़ जाता है तथा प्रतिगामी शक्ति को जन्म देता है, इसे बदलने की आवश्यकता है। यह संघर्ष ही समाज में चला करता है।[2] आज क्रान्ति की जो शक्तियां उज्जवल भविष्य की

---

[1] हिन्दी साहित्य की जनवादी परम्परा, पृ0 193
[2] हिन्दी साहित्य की जनवादी परम्परा, पृ0 193

आवाज दे रहीं हैं, वे ही समाजवादी यथार्थवाद की आधार है। श्रमजीवी समाज में नवीन क्रान्ति का बुगुल बजाते हैं। परिणामस्वरूप राजनैतिक, सामाजिक पृष्ठभूमि विचारधाराओं के साथ नवीन क्रान्तिकारी दृष्टिकोण को उगलतीं हैं। मार्क्सवादी विचारधारा नवीन क्रान्ति का सूत्र हैं। समूचे भारत में इस विचारधारा से भारतीय समाज कला संस्कृति और विचार पद्धति पर व्यापक तथा युगान्तकारी प्रभाव पड़ा।

भारतीय नव जागरण के प्रारम्भिक इतिहास और धर्म आन्दोलनों को समझने के लिए श्री चौहान ने परिवेशात्मक अध्ययन करते हुए लिखा है कि उन दिनों विभिन्न वर्गों के आर्थिक, सामाजिक सम्बन्धों को धर्म व्यवस्था ही विचार क्षेत्र में व्यक्ति को व्यक्त और प्रतिबिम्बित करती थी, क्योंकि धर्म ही मनुष्य के समस्त कार्य व्यापारों का नियमन करता था।[1] इतिहास, दर्शन और समाजशास्त्र की नवीन क्रान्तिकारी दृष्टि का ब्यौरा देते हुए श्री चौहान लिखते हैं कि कम्युनिष्ट पार्टी के नेताओं और मार्क्सवादी लेखकों को अपने उच्च नैतिक विचारों के अनुकूल ही जनवादी साहित्यकारों और उनकी रचनाओं का सहज भाव से आदर, सम्मान करना जरूरी है। हम उनके विचारों और कृतियों की खुलकर सैद्धान्तिक आलोचना करें पर मनुष्योचित सौजन्य और सहानुभूति को त्याग करके नहीं।[2] मार्क्सवादी लेखकों को व्यक्तिगत और सामूहिक रूप से अन्य साहित्य संस्थाओं और साहित्यकारों के साथ अपने रिश्ते अटूट बनाने चाहिए।

---

[1] साहित्यानुशीलन, पृ0 59

[2] साहित्य की समस्यायें, पृ0 194

उनका कर्तव्य है कि शांति व्यवस्था और जनवाद के संघर्ष को तेजतर करने के लिए साथ में सारे रचनात्मक कार्य जरूरी हैं। ज्ञान और चेतना की मशाल ही साहित्यकारों का बड़ा अस्त्र है। मार्क्सवादी लेखकों का कर्तव्य है कि मशाल को उठाकर ही जनता के बीच में जायें, कोरे सिद्धान्त प्रचारक की हैसियत से नहीं। साहित्य निर्माण उनकी जीवन साधना बन जानी चाहिए। तभी नवीन क्रान्तिकारी दृष्टिकोण पनप सकेगा। अबुद्धिवादी और अवसरवादी प्रवृत्ति के विरूद्ध क्रान्ति का तात्पर्य केवल यही है कि समाजशास्त्रीय समीक्षा का निरन्तर विकास करके उसे अधिक से अधिक वैज्ञानिक बनाया जाये। यह एक बहुत व्यापक संघर्ष है। क्योंकि आलोचना के प्रतिमानों, मूल्यों, मूल्य निरूपण सिद्धान्तों आदि की स्थापना करना और उनके आधार पर प्राचीन और नवीन साहित्य मूल्यांकन करना आदि सारे काम इसके अन्तर्गत आते हैं।

समाजशास्त्रीय व्यक्ति मर्यादा पुरूषोत्तम चरित्र का नहीं होता। तात्पर्य यह है कि मजदूर किसान और लेखक समाज के ही प्राणी हैं, जिनसे घटना, आन्दोलन, प्रदर्शन के चित्रण प्रतिबिम्बित हो सकते हैं। जन–जन की मूल भावना को लेकर नवीन क्रान्ति के पैगाम को आगे बढ़ाना होगा। यद्यपि श्री चौहान कुत्सित समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण की चर्चा भी नवीन क्रान्ति दर्शिता में करते हैं, उनका मत है कि यदि इसने गुटबन्दी तक का रूप धारण किया तो विषाक्त वातावरण का सृजन होगा।[1] वस्तुतः सारा साहित्य प्रचारात्मक साहित्य

---

[1] आलोचना के मान, पृ0 140

बनकर क्रान्तिकारी विचारणाओं नकारात्मक सिद्ध कर सकता है। यह बात भिन्न है कि सामाजिक क्रियाशीलता की अभिव्यंजना का साहित्य पाठक को भी उसकी अनुभूति कराता है और इससे वह प्रोपेगन्डा का रूप नहीं बन जाता। साहित्य पाठक को स्वस्थ प्रेरणा देता है। मनोवृत्तियों को उभारकर व्यक्ति को असामाजिक तथा मानवद्रोही नहीं बनाता, जीवन संग्राम में आगे बढ़ने का बल और साहस देता है तथा मनुष्य की चेतना को गहरा, व्यापक और मानवीय बनाता है। हिंसा और द्वेष को नहीं बढ़ाता, परन्तु जीवन की वास्तविक मार्मिक सारगर्भित स्थितियों को चित्रण करता है। नवीन दृष्टिकोण से साहित्य में समाज की मान्यताओं के प्रति तीव्र असंतोष तो मिलता है, लेकिन अपने-अपने युग की विकास सम्भावनाओं की सीमा में एक नयी मानवीय नैतिकता के निर्माण के प्रति गहरा मोह प्रकट कराता है।

साहित्य के अन्तर्गत उदात्त दृष्टि होती है, उसमें विचारधारा के तहत प्रेम, भय, संदेश होता है। लोक संग्रह की लोक मंगलमय अवधारणा होती है। उसी काव्य लेखन को श्रेष्ठ कहा जा सकता है, जिसमें कर्म सौन्दर्य की छटा विद्यमान हो। समाजशास्त्रीय इन दोनों समीक्षकों ने जिस लोक मंगल की मान्यता का स्वरूप स्वीकृत किया है, उसमें न तो व्यक्तित्व का लोप होता है और न व्यक्तिवाद ही प्रमुख हो जाता है। वहां व्यक्ति और समाज एक दूसरे से युक्त होकर आते हैं। उनका सैद्धान्तिक पक्ष भी लोक को प्रमाण मानकर चलता है। जनकवि तुलसीदास पर टिप्पणी करते हुए गुप्त कहते हैं-"तुलसीदास भारतीय संत साहित्य की सर्वोत्तम निधि हैं। जिस साहित्यिक परम्परा को संत कवियों ने

पोषित किया उसके अन्तर्गत तुलसी के अतिरिक्त सूरदास, कबीर, दादू, नानक आदि अनेक महाप्राण साहित्यिक आते हैं। इन संत कवियों ने भारतीय जनता के दुःख से द्रवित होकर साहित्य रचा था।[1] जनता के सम्पूर्ण जीवन को स्पर्श करने वाला लोक मांगलिक कार्य होता है। लोक मंगल का यह रूप निश्चित करते हुए उन्होंने लोक मंगल में ही धर्म की कल्पना की है, जैसा कि आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने राम को आदर्श नायक मानकर उनके चरित्र में पूर्ण मानत्व की कल्पना की है। सारा बाह्य जगत भगवान का व्यक्त स्वरूप है समष्टि रूप में वह नित्य है।

लोक मंगल सामाजिकता के पूर्ण निर्वाह के साथ जुड़ा हुआ है। जीवन उसकी पूर्णता तथा विविधता में भले वह चर्चित रहे लेकिन उसका ग्राह्य रूप वर्चस्व ही है। समाज की सेवा करने वालों में छोटे बड़े की भावना लोक मंगल की दृष्टि से अत्यन्त हानिप्रद है, इससे समाज व्यवस्था टूटती है तथा संघ शक्ति कम होती है। समाजशास्त्रीय विवेचना में श्री चौहान की प्रगतिशीलता लोक मांगलिक रूप को निर्धारित करती है। वे साहित्य में पूर्ण मानव की प्रतिष्ठा के उपयोगितावाद से प्रेरित है। वह साहित्य को केवल मनोरंजन कार्य स्वीकार नहीं करते वरन् उसमें साहित्य के साथ चेतना का विकास अपेक्षित मानते। हमारा प्राचीन साहित्य उनकी इन सारी मान्यताओं को पूर्ण करता है। जहां तक लोक मंगलकारी भावना का प्रश्न है वहां उन्हें सामाजिकतावादी दृष्टि ही लभ्य होती है।

---

[1] साहित्य धारा, पृ0 48

हमारी प्राचीन साहित्यिक कृतियां जहां हमारा मनोरंजन करती हैं वहां वे हमारे अन्दर केवल यही मानव भाव नहीं जगातीं कि मानव मात्र एक है और उनका इतिहास देशकाल के अनुरूपता के होते हुये भी प्रगति पथ पर एकोन्मुख हैं, बल्कि वह हमारे अन्दर कर्म की प्रेरणा भी जगाते हैं ताकि हम अपनी सम्पूर्ण शक्ति लगाकर संघर्ष में कूद पड़े और समय रहते हुए प्रतिक्रियावादी शक्तियों को विश्व की शान्ति भंग करने से रोक दें। श्री चौहान का मत है कि साहित्य में पूर्ण मानव की प्रतिष्ठा का संघर्ष जितना लोक मंगलकारी है, वह उतना ही अधिक सामाजिक होता है।[1] संसार के सभी मनुष्य जीवित रहने का अधिकार रखते हैं और अपनी बुद्धि तथा श्रम से एक स्वतन्त्र जनवादी समाज का निर्माण करते हैं।

विश्वजनीन सत्य साहित्य के माध्यम से ही लोकहितवादी सिद्ध होता है। कभी–कभी ऐसा होता है कि कला और साहित्य के रूपों में यथार्थवादी भूमिका पर क्रान्तिकारी परिवर्तन हो जाता है फिर भी साहित्य सामाजिक जीवन में उत्पन्न संक्रामक रोगों को ध्वस्त करता है। साहित्य रचना उन्मुख विचार प्रवाह की पद्धति है जो समाजवादी निष्ठा और मंगलवादी उत्प्रेरणा से परिपूर्ण है।[2] लोकहितवादी साहित्यकार का सृजन कार्य एकांगी न होकर विश्वजनीन होता है। साम्यवादी साहित्य पारखी जीवन के किसी क्षेत्र में अव्यवस्था को फैलते देखकर चुप हाथ पर हाथ धरे नहीं बैठ सकता। डॉ0 देवराज उपाध्याय

---

[1] साहित्य की समस्यायें, पृ0 39–40
[2] साहित्य की समस्यायें, पृ0 66

लैनिनवादी विचारणा को लोक मंगलकारी प्रतिरूप में प्रस्तुत करते हुए कहते हैं कि कला मानव समष्टि को वस्तु और उसके आधार पर सामाजिक जीवन का लोकहितवादी स्वरूप है। कला सर्व साधारण के जीवन की प्रतिकृति होने के साथ ही उससे सम्बन्धित परिवर्धित और विकसित करने का प्रमुख साधन है।[1]

प्रत्येक कला का पुजारी पूरी स्वतन्त्रता के साथ अपने हृदय की प्रेरणा के अनुसार अपनी कला का विकास करता है। लैनिन ने साहित्य की साम्यवादी दल एवं सर्वहारा के प्रति हित साधन का भाग इसीलिये माना है। लोक विधायनी शक्ति कला के अन्तर में अन्तर्भूत रहती है। जगत को सत्य मानने वाला साहित्यकार लोक को प्रमाण मानकर चलता ही है। सारे समाज और विश्व में इसी विशिष्टता के कारण कला को दूसरा ईश्वर कहा गया है। साहित्य के भाव लौकिक होते हैं और लोकमंगलकारी होकर सामाजिकता के साथ सदैव जुड़े रहते हैं।

मार्क्सवादी दृष्टिकोण प्रगतिवादी है। इसके अनुसार सृष्टि का मूल भौतिक पदार्थ भूत तत्व है। फलतः जगत निरन्तर प्रगति मूलक है। समाज के वर्तमान वैषम्य का कारण ह्रासोन्मुखी अस्वस्थ प्रणाली है। वर्तमान पूंजीवादी व्यवस्था के उन्मूलन से ही वर्गगत स्वार्थ और समाज के वैषम्य का नाश हो सकता है। क्रान्ति वर्ग संघर्ष के चरम विकास की अवस्था में ही घटित हो सकती है नहीं तो ह्रासोन्मुखी प्रवृत्ति सारी सृष्टि पर छायी रहेगी।

---

[1] हंस सितम्बर 1938 अंक–5

भारत में मार्क्सवादी सिद्धान्तों के समर्थकों ने राजनैतिक और आर्थिक दोनों प्रकार की पद्धतियों पर गहरा प्रहार किया। प्रो0 गुप्त ने इनका जिक्र करते हुए लिखा है कि कांग्रेस के भीतर एक ऐसा संघ संगठित हुआ है जो ह्रासोन्मुखी प्रवृत्तियों का परिचायक है।[1] छायावादी कविता के प्रति भी प्रो0 गुप्त की यही अवधारणा बनी रही है जिन्होंने छायावाद जैसी प्रवृत्तियों को कलाकार का बन्धन कहा है। कलाकार के अपने अभिजात्य वर्गो में सिद्धान्त कला के विकास में बन्धन बन सकते हैं।[2] आधुनिक युग में कलाकार दकियानूशी सामाजिक सम्बन्धों को बन्धन के रूप में अनुभव करता है। जहां मध्य युग में कला दरबारों में पली थी, वहां इस कारण उसमें चाटुकारिता और कामुकता का बाहुल्य आ गया जो साहित्य के विकास का एक दोष है।

परम्परा के क्रमिक विकास में प्रतिगमन होने पर प्रगतिशील साहित्य प्रकट होकर सामने आता है। द्वन्द्वात्मक दर्शन का यह त्रिकाल रूप है। मानवीय चिन्तन को निर्जीव परम्परा से बचाने के लिए समाजशास्त्रीय समीक्षकों ने विशेष कार्य किया। मानव जीवन ही साहित्य का उपादान और विषयवस्तु रहा है। विकासशील मानव जीवन ह्रासोन्मुखी, शाश्वत, निर्जीव परम्परा के साथ कभी भी आगे नहीं बढ़ा। समाजवादी यथार्थवाद एक प्रकार की द्वन्द्व आस्था लेकर चलता है, उसमें निराशावाद के लिये कोई स्थान नहीं है। मानवतावादी जनतांत्रिक दृष्टि से साहित्यिक प्रश्नों को भी स्वस्थ परम्परा के घेरे में विचार

---

[1] हिन्दी साहित्य की जनवादी परम्परा, पृ0 103

[2] साहित्य धारा, पृ0 12

करना चाहिए। आज के परिवेश में मार्क्सवादी विचारधारा के सिद्धान्त प्रबल सम्भावनाओं से युक्त हैं। श्री चौहान आज के समाज में यथार्थ की मुख्य समस्याओं पर विचार करते हुये ही यही विचार स्पष्ट करते हैं कि समस्त मानव जीवन वेदना, दुःख दर्द के बीच एक नये मानव युग का उदय हो रहा है।[1]

हम यह मानते हैं कि भारतवर्ष में आज मुख्य प्रश्न राजनैतिक और आर्थिक है। हम यह भी मानते हैं कि मार्क्स के सिद्धान्त बड़ी हद तक वैज्ञानिक और प्रगतिशील हैं। आज के साहित्यिक प्रधान कार्लमार्क्स के सुझाये हुये वर्ग संघर्ष में अपना पात्र का ज्ञान और निर्माण कर लेना है। यथार्थवाद के अनिवार्य अंगों के रूप में प्रो0 गुप्त ने समाज की कुरूपताओं, रूढ़ियों एवं अन्ध विश्वासों पर तीव्र प्रकाश डालना उचित ठहराया और यह सिद्ध किया कि जब बुद्धिजीवी सर्वहारा को अपने साथ लेकर नवीन समाज व्यवस्था के लिए बाध्य नहीं करेगा, तब तक शोषण का, शोषक और शोषितो का यह अन्तर बना रहेगा।

पूंजीवाद युग का प्रारम्भ हमारे यहां श्री गुप्त ने सन् 1957 से स्वीकार किया है और तभी से वह सामन्तवाद का ह्रास भी मानते हैं।[2]

नये जीवन साहित्य में व्यक्त होते हैं जो पुरानी सीमाओं में नहीं समाते मोटे रूप से आशय यह है कि मानव भावनाओं और विचारों की सुन्दर अभिव्यक्ति परम्परा के विरोध में ही होती है। इस कसौटी को श्री गुप्त ने खरा

---

1 साहित्य की समस्यायें, पृ0 63
2 हिन्दी साहित्य की जनवादी परम्परायें, पृ0 123

बताया है।[1] हमें स्वीकार करना होगा कि कला एक सामाजिक क्रिया है और कलाकार अपनी जनता तक पहुंचकर उसे प्रभावित करना चाहता है। इस मामले में कुछ रूकावटें आतीं हैं जिन्हें हटाना अनिवार्य है। आज तक का इतिहास यही मानता रहा है कि साहित्य कला को परम्परावादी चश्में से देखकर उसका हम अहित करेंगे और प्रगतिशील आन्दोलन का हित के स्थान पर अहित सिद्ध हो जायेगा। समीक्षक यथार्थवादी मान्यताओं को निर्जीव परम्परा के विरोध स्वरूप मान्य समझते हैं। सामाजिक यथार्थ की अभिव्यक्ति साहित्य और कला में सदा परिवर्तनशील होकर प्रगति की ओट पकड़े रहती है। नया जीवन साहित्य प्रत्येक नये युग के साथ बदलता रहता है। साहित्य युग परिवेश को प्रभावित करता है तो युग परिवेश से प्रभावित भी होता है। साहित्य की समीक्षा करते हुये उन आधारभूत तथ्यों को मान्य समझना चाहिए जो प्रगतिमूलक हैं। आज के बुद्धिजीवी वर्ग में मार्क्सवादी विचारधारणा घर कर गई है। परिणामतः भावनाओं को उद्वेलन ह्रासोन्मुखी प्रगतिगामी परम्पराओं को कुचल देता है और खुले रूप से नवीन क्रान्ति का बिगुल बजाकर यथार्थ आदर्श रखने की प्रेरणा देता है। जिसमें वर्ग संघर्ष की स्थिति ही सर्वोपरि होती है।

प्रगतिवादी युग में एक नये धरातल पर समीक्षा दृष्टि का उन्नयन हुआ। कला परकता की दृष्टि के स्थान पर मानवतावादी दृष्टि को आग्रह मिला। संवेदनशीलता और काव्य सौष्ठव के स्थान पर अनेकामुखी वस्तु परकता का आवाहन हुआ। एक वस्तुगत सौन्दर्यमूलक दृष्टि विकसित हुई। जिसपर

---

[1] साहित्य संदेश, जुलाइ, 1961

सामाजिक भूमिका साहित्य मूल्यांकन के लिये अनिवार्य समझी गयी। समाजशास्त्रीय मान्यतायें सबसे अधिक उपयोगी और मानवतावाद के निकट सिद्ध हुई और बौद्धिक अनुभूतियों को स्थान देकर समीक्षकों ने प्रगतिवादी सौन्दर्यशास्त्र के एक बड़े प्रश्न का समाधान कर दिया। प्रो० गुप्त साहित्य में सौन्दर्यबोध के शाश्वत संदर्भ को सामाजिकता के साथ जोड़ते हुये लिखते है कि साहित्य में सौन्दर्यबोध के कोई शाश्वत नियम नहीं होते। यह सौन्दर्यबोध काल और देश अथवा ह्रास होता रहता है। सामाजिक रूचि और साहित्यिक रूचि जो शिक्षा वर्ग की भूमिका आदि से बनती है और निश्चित होती है, सौन्दर्य बोध को दिशा देती है।[1] साहित्य जीवन का अनुकरण है। सौन्दर्य बोध का निरूपण है और सामाजिकता की व्याख्या है। युग का सहित्यिक सौन्दर्यबोध सामाजिकता के साथ भलींभांति जुड़ा रहता है। भाषा सौष्ठव और ताल लय की चतुराई, अलंकारों की अभिनव कारीगरी, पच्चीकारी, मीनाकारी अन्ततः इन सब पर कला का सौन्दर्य निर्भर नहीं होता। श्रेष्ठ कला का निर्माण अन्ततः इस बात पर निर्भर होता है कि कलाकार ने कितनी गहरी सामाजिक दृष्टिकला में प्रदान की है।

देश, काल, किसी कारण एक सीमा तक दुरूह एवं जटिल अनुभव है। साहित्य समीक्षा में सौन्दर्यशास्त्र का युग विधायक स्वरूप देश, काल सीमा से जुड़ा हुआ है। मनुष्य ने आत्म विकास कर मानव मूल्यों का निर्माण सौन्दर्य परक दृष्टि से ही किया है। साहित्य या कला मनुष्य की सौन्दर्यबोधीयता का सर्वोत्तकृष्ट सार भाग है। इस युग में अथवा युगान्तर से व्यक्ति की चेतना के संस्कार बनते चले आते हैं। श्री चौहान लिखते हैं –"सौन्दर्य मूलक सामाजिक

---

[1] साहित्य धारा, पृ0 7

दृष्टिकोण को मूलाधार मानव मूल्यों के निरूपण पर आधारित है। व्यक्ति की चेतना के संस्कार उसकी प्रतिभा के सर्वागींण विकास और उसके व्यक्तित्व की पूर्णता के लिए ऐसे व्यापक सौन्दर्य मूलक सामाजिक दृष्टिकोण की अनिवार्य आवश्यकता है।[1]

आज के संघर्ष युग से नये जनवाद या समाजवाद के निमार्ण युग तक के अन्तरावकाश की सांस्कृतिक समस्यायें एक सूत्र में बंधी हुई हैं। समाज को मानवीय और सांस्कृतिक बनाकर व्यक्ति की आत्मा को परितोष और रचनात्मक प्रेरणा देता है। इस वैज्ञानिक सौन्दर्य मूलक सामाजिक दृष्टिकोण की अवधारणा कला और साहित्य में प्रतिबिम्बित जीवन सत्य द्वारा निरूपित मानव मूल्यों से ही हो सकती है। अतः कला और साहित्य को जनसुलभ बनाने वाली शिक्षण नीति के प्रश्न से जोड़ना अनिवार्य है। कला समीक्षा का कार्यक्षेत्र अब नीर–क्षीर विवेचना तक ही सीमित नहीं रखा जा सकता। कला और जीवन के परस्पर सम्बन्ध का निर्णय करना और उसके सौन्दर्य मूल्यों का निर्णय करना भी उसका कर्तव्य है।

सौन्दर्य दृष्टि सापेक्षता मूलक दृष्टि है। इसमें विचारधारा का मुख्य स्थान है। विचारणीय यह तभी हो सकती है जब साहित्य के मूल्यांकन में उसकी स्थापनायें नगण्य हों। आज समाजशास्त्र में सौन्दर्य निरूपक दृष्टिकोण मुख्य हो गया है। परिणामतः कलाकारों की समाजशास्त्रीय मान्यतायें वस्तुवादी सौन्दर्यबोध के निकट हैं। श्री चौहान का मन्तव्य है कि मनुष्य का साहचर्य बहुत पुराना है।

---

[1] साहित्य की परख, पृ0 3

वह सामाजिकता के साथ तो एक ओर सौन्दर्यबोध के आयामों को उद्घाटित करता ही है, दूसरी ओर जड़–प्रकृति के पेड़, पौधे, पशु, पक्षी भी वस्तुवादी सौन्दर्य के आयामों का निरूपण करते हैं।[1]

साहित्य और कला, कलाकार की सूक्ष्मतम उपजीव्य निधि हैं। कलाकार समाज में रहकर समाज यथार्थ से जब टकराता है, तो वह मानसिक प्रक्रिया को अपने में समेट लेता है। तब यह सिद्ध होता है कि प्रगतिशील सौन्दर्यशास्त्र सामाजिकता और अनुभूति दोनों को जोड़कर चला है। प्रो0 गुप्त कहते हैं कि जो कलाकार समाज की बेड़ियां तोड़ने को अधीर है, वस्तुगत सौन्दर्य के अगुवा कलाकार हैं उनकी रचना में उतनी ही तीव्रतर गति होती है, इसका साक्षी इतिहास है।[2]

सामाजिक दृष्टिकोण को आधार मानकर रचना करने वाले साहित्यकार वस्तुगत सौन्दर्य को ही हिमायती मानते हैं। कवि लेखक के जीवन दर्शन से मिलकर सामाजिकता का प्रतिरूप छवि, चित्रों के द्वारा मूर्तिमान होता है। यह अभिव्यक्ति मधुर और उग्र दोनों रूपों में प्रकट हो सकती है। साहित्य जीवन के निकटस्थ होकर सौन्दर्य की वस्तुगत सत्ता को स्वीकार करता है, जिसमें वर्ग संघर्ष का प्रतिस्थापन रूप सम्मलित है।

प्रगतिवाद साहित्य की धारा नहीं, साहित्य का मार्क्सवादी दृष्टिकोण है। मानव समाज और प्रकृति से प्रगतिवादी समीक्षकों ने साहित्य

---

[1] साहित्यानुशीलन, पृ0 3
[2] नया साहित्य, नई दृष्टि, पृ0 52

चिन्तकों को काफी बारीकी से देखा और समझा है। व्यक्तिवादी सीमाओं से उठकर सामाजिक मान्यताओं को स्वीकार करने की समीक्षावृत्ति आधुनिक काल से प्रवृत्त रही है। प्रगतिवाद में साहित्य को जन–जीवन से जोड़कर देखा गया है। जन–जीवन से अलग हटकर साहित्य मूल्यहीन माना जाता है। साहित्य के कोई भी मानदण्ड ऐसे नहीं हो सकते हैं जो स्वतः चलते रहें। जैसे–जैसे समाज बदलेगा, वैसे–वैसे साहित्यिक मानदण्ड भी बदलेंगे। समाज का एक विराट अंग – दलित और त्रसित रहा है। आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी के युग में भी ऐतिहासिक विचार प्रकट किया गया है और समझाया गया कि आलोच्य ग्रंथों में उस जमाने के रहन–सहन, आचार–विचार, रीति–रिवाज परोक्षतः प्रभावी हैं। यदि सामाजिक कल्याण के लिए उनमें कुछेक दृष्टि मिलती है तो भी हितकर ही है।[1] इस युग का साहित्य जागरूक और आर्थिक शोषण को स्वतन्त्रता से भी प्रथम स्थान देने लगा था। सारा सांस्कृतिक ढांचा आर्थिक सम्बन्धों पर निर्भर और आधारित था। इस मान्यता का द्विवेदीयुगीन रूप पर कितना गहरा प्रभाव पड़ा यह देखते ही बनता है। यद्यपि साहित्य का समाज की विभिन्न स्थितियों से गहरा सम्बन्ध होता है परन्तु यह सम्बन्ध ऐसा यांत्रिक और कठोर नहीं होता कि साहित्य स्थितियों की अवहेलना न कर सके और स्वतन्त्र रूप से उसका विकास न हो सके।

प्रगतिवादी साहित्य जनसाधारण भावनाओं को अभिव्यक्ति प्रदान करता है। प्रगतिवादी समीक्षा उन्हीं साहित्यकारों को मान्यता प्रदान करती है जो

---

[1] आधुनिक हिन्दी साहित्य की प्रवृत्तियाँ, पृ0 140

जनचेतना को मुखरित करती है। प्रो0 गुप्त का कहना है कि प्रेमचन्द और पंत इसलिए समाजवादी साहित्यकार हैं उंन्होंने भारतीय चेतना को वाणी दी है। उनका साहित्य देश की परम्परागत साहित्य साधना का एक छोर है। वह हमारी साहित्यिक परम्पराओं को ऐसे नवीन पन्थों पर ले गये हैं जहां पहुंचकर जनवादी रूप प्रकट हो सकता है।[1] समाज के साथ जुड़ा हुआ साहित्य समाज की बेड़ियों के रहते हुये कल्पना के गीत नहीं गा सकता। श्री चौहान ने सुमित्रानन्तदन पंत कृत युगवाणी और ग्राम्या की आलोचना करते हुये लिखा है कि वे आदर्श उच्च जीवन नये समाज, नयी संस्कृति की कल्पना करते हैं और आज के समाज की संघर्षमय वास्तविकता उसके अन्तर्गत बहने वाली नवजीवन की धाराओं उसके गर्भ में पड़े नवजीवन के बीज, समाज परिवर्तन की शक्तियों की अपने ऐतिहासिक कार्य के प्रति जागरूकता और चेष्टा ने उनके मन में विश्वास की पुष्टि कर दी है।[2]

आधुनिक प्रगतिशील वास्तविकता का सर्वांगपूर्ण चित्रण जहां एक ओर शोषित मनुष्य की व्यक्तिगत कहानी को उद्‌भावित कर रहा है, वहां दूसरी और दैन्य, नैराश्यपूर्ण अवधारणा से आपूरित हो रहा है। आजकल का प्रगतिशील समीक्षक समाज में वर्ग संघर्ष को स्वीकार करके चलता है। प्रो0 गुप्त ने दोनों ही वर्गो की सामाजिक परिस्थितियों से प्रभावित माना है।

---

1 सिद्धान्त और समीक्षा, पृ0 112
2 साहित्यानुशीलन, पृ0 197

श्री शिवदान सिंह चौहान ने यह माना है कि व्यक्तिगत जीवन में साहित्यकार कोई भी मान्यता स्वीकार करे और चाहे मान्यता मार्क्सवाद की विरोधी हो, किन्तु उससे उसका प्रगतिशील गुणों से समन्वित साहित्य प्रतिक्रियावादी नहीं कहा जा सकता। इसी प्रकार की मान्यता अर्बाचीन साहित्यकारों की सदैव रही है। मार्क्सवाद का विस्तृतीकरण आधुनिक साहित्य में परिलक्षित होता है प्रगतिवाद, मार्क्सवाद को आधार मानकर चलता है। अतः प्रगतिशीलता पर टिके सभी साहित्य को समाजवादी मानने में हिचक नहीं करनी चाहिए।

एक ओर संकट का ह्रास तो दूसरी ओर संस्कृति का अभिनव विकास है। एक ओर पुराने वर्ग समाज का ढांचा चरमराकर टूट रहा है तो दूसरी ओर एक नये वर्ग युक्त मानव समाज का निर्माण हो रहा है। एक ओर वर्ग समाज की अनैतिकता, हिंसा, अनाचार, अन्याय और शोषण दोहन की यातनाओं से पीड़ित संत्रस्त कुंठित मानवों की चीत्कार और आह, कराह है तो दूसरी ओर नये मानव समाज के निर्माण का उत्साह और उल्लास है। इस प्रकार शांति के दुःख दर्द त्याग, बलिदान और जीवन आकांक्षा से भरे हौंसले और अरमान सदैव रहते हैं।

मार्क्स ने ऐतिहासिक और भौतिकवाद के आधार पर समाज का विकास और उसके परिवर्तन की दिशा निर्धारित की है। वह समाज के इतिहास

को आर्थिक सम्बन्धों पर आधारित वर्ग संघर्ष की क्रमिक कथा कहता है। इस तथ्य को लगभग ज्यों का त्यों साहित्य के इतिहास के संदर्भ में श्री चौहान ने स्वीकार किया है।

"समाज का इतिहास उत्पादन प्रणाली के विकास का इतिहास है। श्रम में लगे मनुष्य के जनसमूह का इतिहास है। क्योंकि वही भौतिक मूल्यों का निर्माण करता है और अन्त में जीवन के सामाजिक और वैचारिक क्षेत्रों में अविराम होने वाले परिस्थितिजन्य संघर्ष का इतिहास बनता है।"[1]

ऐतिहासिक दृष्टि से साहित्य के क्षेत्र में आने वाली सभी प्रवृत्तियां तत्कालीन परिस्थितियों, आवश्यकताओं तथा विकासक्रम की अगली श्रृंखलाओं की देन होती हैं। अतः किसी भी साहित्य पर पूरा–पूरा किसी दूसरे देश के राजनैतिक या साहित्यिक देश का प्रभाव कहना समीचीन ही है। इतिहास सम्बन्धी मार्क्सवादी मान्यता श्री चौहान के विचार के अनुकूल ही हैं। साहित्य के मूल्यांकन में आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिकपरिस्थितियों के विश्लेषण को मूल्य दिया जाता है। पाश्चात्य अर्थ व्यवस्था और संस्कृति से सम्पर्क में आने के फलस्वरूप हमारे देश और समाज के बाहरी, भीतरी जीवन में जो प्रत्यक्ष, परोक्ष परिवर्तन हो रहे थे, उसके बारे में श्री ौहान ने इतिहास सम्मत पुष्टि की है।[2]

आज के प्रगतिशील लेखक का उत्तरदायित्व है कि आगे आने वाली समाज व्यवस्था के लिये भूमिका तैयार करे किन्तु वह क्रान्ति की झोंक में

---

[1] साहित्य की समस्यायें, पृ0 18
[2] हिन्दी साहित्य के 80 वर्ष, पृ0 62

संस्कृति को विस्मृत न करें। प्रो0 गुप्त को मान्य है "प्रगतिशील लेखक सामाजिक और सांस्कृतिक क्रान्ति चाहता है वह एक अत्यन्त विस्तृत धरातल पर मानव संस्कृति का निर्माण चाहता है। अपनी पुरानी विरासत को सम्मान सहित अपनाकर वह आगे बढ़ता है। कुछ भी मूल्यवान वस्तुयें वह पीछे नहीं छोड़ सकता किन्तु अवांछित भार उसे नहीं ढोने चाहिये क्योंकि आजकल जो दुहरायेगा नहीं तो कल की संस्कृति कल से भी अधिक विकसित और अच्छी होगी"।[1]

ऐतिहासिक क्रम में इन सारे तत्वों को समझाकर द्वय समीक्षक साहित्य की मार्क्सवादी आलोचना, जनप्रवृत्ति आर्थिक सम्बन्ध, राजनैतिक मान्यतायें, समाजशास्त्र, उत्पादन और विनिमय आदि को आधार मानकर चलते हैं। समीक्षक द्वय ने इस समस्त मान्यताओं के सिद्धान्त का विवेचन किया है और अपनी समीक्षा साहित्य में उन्हीं कसौटियों को स्वीकार किया है। समाजशास्त्रीय साहित्य जनजीवन के साथ प्रतिबद्ध होकर चलता है। जनजीवन से हटकर चलने वाला साहित्य मूल्यहीन हो जाता है। प्रगतिवादी समीक्षा उन्हीं साहित्यकारों को मान्यता प्रदान करती है जो जनचेतना को मुखरित करती हैं।

* * *

---

[1] हिन्दी साहित्य की जनवादी परम्परा, पृ0 148

षष्ठ अध्याय

समाजशास्त्रीय हिन्दी समीक्षक

(अमृत राय, भगवत शरण उपाध्याय, नामवर सिंह, शिवकुमार मिश्र, रघुवंश और मन्मथनाथ गुप्त)

विचारधारा के समान ही साहित्य का उपजीव्य परिवेशात्मक भौतिक जगत होता है। प्रगतिशील समीक्षक समाज का हित करने वाले तत्वों को समीक्षा साहित्य में आत्मसात करते हैं। इस दृष्टि से अमृतराय, भगवतशरण उपाध्याय, दिनकर, मुंशी प्रेमचन्द, रघुवंश और नामवर सिंह प्रमुख हैं। जिनका साहित्य अधोलिखित आलोच्य ग्रंथों में विवेचित है।

(क) समीक्षा साहित्य :

श्री अमृतराय कृत प्रस्तुत कृति समीक्षा लोक में विशिष्ट स्थान रखती है। मार्क्सवादी के सम्बन्ध में जितना विवेचन हिन्दी साहित्य में सिद्धान्त पक्ष को लेकर हुआ है, उसमें सबसे गहन अधिक वैविध्यपूर्ण विवेचन अमृतराय ने ही किया है। इस सम्बन्ध में वह मार्क्स के अनुयायी हैं, जिन्होंने द्वन्द्व को ठीक से समझकर भौतिकवादी व्याख्या की है, जिनसे अनेक उलझे हुये प्रश्न स्पष्ट हुये हैं। भाववादी, चेतना को निरपेक्ष मानते हैं, जबकि अमृतराय ने उसे वस्तु सापेक्ष परिस्थिति सापेक्ष और समाज सापेक्ष कहा है।[1] उन्होंने एक उदाहरण देकर समझाया है कि मेरे कमरे की दीवारें तो रहेगीं ही, मैं चाहे रहूँ या न रहूँ चाहे देखूँ या न देखूँ मनुष्य की चेतना परिस्थितियों का सृजन नहीं करती बल्कि परिस्थितियाँ ही मनुष्य की चेतना का सृजन करती हैं।

---

[1] नई समीक्षा, पृ० 2

समाज मनुष्यों का होता है वह ब्रह्म जैसी कोई निराकार वस्तु नहीं है, उसमें मनुष्य अपनी जीविका उपार्जित करता है। जीवकोपार्जन की क्रिया में वह एक दूसरे से बंधे रहते हैं और उसमें कोई विश्वास या परिवर्तन आता है तो उसी के अनुसार सामाजिक सम्बन्ध में परिवर्तन और विकास होता चलता है। वस्तु जगत ही उसका मूलाधार है। उससे स्वतन्त्र और निर्पेक्ष कुछ नहीं है। इस बात को एक सरल रूप में कहें तो कहेगें कि परिस्थितियां मनुष्य की चेतना को गढ़ती हैं। मार्क्सवाद का दूसरा मुख्य सिद्धान्त ऐतिहासिक भौतिकवाद का है। इस सबका वैज्ञानिक विवरण अमृतराय ने इस प्रकार प्रस्तुत किया है "एक समय था कि समाज में सब लोग बराबर थे मृगया ही उसके जीवकोपार्जन का साधन था। सब लोग मिलकर आखेट करते थे और मिलकर उसका उपभोग भी करते थे। कालान्तर में दास प्रथा का प्रचलन हुआ। युद्धों में बन्दी बनाया गया शत्रु दास होने लगे और इतिहास में पहली बार दो मानवों के बीच दास और प्रभु का सम्बन्ध स्थापित हुआ। प्रभु इसी नाते प्रभु थे कि उत्पादन के साधन भूमि पर उनका अधिकार था और दासों को उनकी आज्ञा का पालन करना होता था नहीं तो प्राणों से हाथ धोना पड़ता था।"[1] इसी प्रकार दास प्रथा से सामन्तवाद का और सामन्तवाद से पूंजीवाद का जन्म हुआ तथा पूंजीवाद के विरोध स्वरूप मार्क्सवाद ने जन्म लिया।

साहित्य चूंकि जीवन की अभिव्यक्ति है। समाज के विकास से, परिवर्तित सम्बन्धों से, साहित्य प्रभावित होता है। साहित्य में जीवन के संघर्ष तथा तत्कालीन परिवेश का चित्रण होता है। अमृतराय ने प्रस्तुत ग्रंथ में इसे

---

[1] नई समीक्षा, पृ0 3–4

विकसनशील बताया है। अमृतराय मार्क्सवाद के परिमार्जित इतिहास को इंगित करने से नहीं चूकते, उनका कथन है कि "किसी युग विशेष में विचारों को तत्कालीन आर्थिक परिस्थितियों के प्रति कृति मान बैठना मार्क्सवाद की हत्या करता है। यह कहना गलत है कि युग की आर्थिक परिस्थितियाँ युग की विचारधारा है।"[1] विचारधारा के संदर्भ में अमृतराय ने कुछ गलतफहमी भी की है। उनकी मान्यता का यह अंश आपत्तिजनक है अथवा सम्भवतः मार्क्सवाद के विपरीत है जिसमें वह लेनिन के आधार पर वह प्रतिपादित करते हैं कि अब तक सारी कला वर्गयुक्त समाज की उपज होने के कारण उन्हीं मान्यताओं का प्रतिपादन करती है जो इस काल के शोषक वर्ग की हैं।[2] वह जो मानते हैं कि प्राचीन साहित्य को अर्थ और प्रतिक्रियावादी सिद्ध कर देता है। हिन्दी साहित्य में यदि इस मान्यता को लागू कर दिया जायेगा तो सूर, कबीर की वे कवितायें जो शोषण का विरोध करने के लिये लिखी गयी हैं प्रतिक्रियावादी सिद्ध होंगी।

अमृतराय ने प्रस्तुत कृति में साहित्य का उद्देश्य श्रोता या पाठक की भावनात्मक सत्ता पर प्रभाव डालना स्वीकार किया है। जो साहित्य यह नहीं कर सकता वह अपने उद्देश्य की दृष्टि से असफल है। सब मिलाकर कुछ सीमाओं के साथ उनकी सृष्टि व्यापक आधार ग्रहण करके चली हैं। साहित्य की सामयिक और सार्वकालिक कसौटी के रूप में यह कथन उपयुक्त लगता है कि जो साहित्य आज युग के साहित्य के रूप में वन्दित है वह सबसे पहले अपने

---

[1] नई समीक्षा, पृ0 6
[2] नई समीक्षा, पृ0 8

युग का था अपने युग और समाज में पूरी तरह डूबा हुआ राय ने युग की जनबोधीय शक्ति को पहचाना।[1]

अमृतराय की यह दूसरी कृति समाजवादी यथार्थवाद को प्रकट करती है। संयोग से उनका आधार भारतीय साहित्य और परिस्थितिजन्य होकर रूसी साहित्य ही रहा है। उन्होंने इस ग्रंथ में ऐसी कोई नयी बात नहीं कही है जो भारतीय धरातल पर मौलिक हो। उन्होंने उन्हीं मान्यताओं का पुनः समर्थन किया है, जिनकी नई समीक्षा कृति में विवेचन हो चुका है। यथार्थवाद के परिप्रेक्ष्य में साहित्य के संयुक्त मोर्चे को उन्होंने इस रूप में प्रकट किया है–"जो साहित्यकार जितनी अधिक संवेदनीयता के साथ जीवन को अपने साहित्य में उतारता है वह उतना ही बड़ा साहित्यकार होता है और जीवन से हमारा अभिप्राय काल्पनिक स्पप्निल जीवन से नहीं प्रत्युत जीवन संघर्ष से है। जीवन संघर्ष से पैदा मानसिक वैचारिक और भावात्मक उथल–पुथल से है"।[2]

गोर्की के साहित्य की विशेषताओं को उन्होंने इस कृति में जनक्रान्ति के रूप में देखा है। उनके साहित्य की शक्ति यहां यथार्थवादी है। गोर्की का यथार्थवाद नग्न चित्रण करके ही नहीं रूक जाता वरन् आजादी के लिये लड़ता–मरता और मानवता को आजाद होता हुआ देखता है। उसके पात्रों के सामने मनुष्य का क्रान्तिकारी स्वरूप ही रहता है जिसमें वर्तमान को बदलने की क्षमता है। अमृतराय अपने यथार्थवादी समाजवाद को गोर्की की मान्यताओं

---

[1] नई साहित्य, पृ0 44
[2] साहित्य और संयुक्त मोर्चा, पृ0 104–105

पर ही आधारित मानते हैं। साहित्य के संयुक्त मोर्चे में यथार्थवादी साहित्य की विशेषताओं का प्रतिपादन करते हुये वे समाज के ऐतिहासिक क्रम विकास को क्रान्ति दिशा की ओर उन्मुख करते हैं। आज क्रान्ति की जो शक्तियाँ उज्जवल भविष्य की आवाज दे रही हैं वे समाजवादी यथार्थवाद की आधार है।[1] अमृतराय ने प्रेमचन्द के साहित्य का मूल्यांकन करते हुये प्रगतिशील साहित्य का यह रूप भी स्वीकार किया है कि वह क्रान्तिदर्शिता थे, उन्होंने प्रेमचन्द को प्रगतिशील समाज सुधारक का सत्य मानकर समाज में अमूल्य परिवर्तन लाने वाला कहा है। इससे सिद्ध है कि आलोच्य समीक्षक समाजवादी यथार्थवाद से जहां सिद्धान्त पक्ष में गोर्की तथा अन्य रूसी मार्क्सवादी समीक्षकों का अनुकरण करते हैं वहां व्यावहारिक समीक्षा में भी पूर्वाग्रहों से आक्रान्त हैं।

डॉ0 भगवत शरण उपाध्याय प्रगतिशील समीक्षक हैं, जिन्होंने इतिहास, दर्शन का गहन चिन्तन करते हुये समाजवादी अवधारणा को अपने आलोच्य ग्रंथ में वरण किया है। उपाध्याय जी समाज बदलने की प्रक्रिया में मार्क्स के समान क्रान्तिदर्शी हैं। साहित्य सच्चे अर्थो में प्रगतिशील है, जिसका सम्बन्ध ऐतिहासिक और गत्यात्मक दर्शन से जुड़ा हुआ है। साहित्य को वह मनुष्य और उसकी परिस्थितियों के पारस्परिक संगत का परिणाम मानते हैं और उन्होंने लिखा है कि साहित्य मनुष्य और उसकी परिस्थितियों तथा वातावरण की पारस्परिक संग्राम का अभिव्यक्तिकरण है"।[2] निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है

---

[1] साहित्य और संयुक्त मोर्चा, पृ0 88
[2] 'खून के छींटे इतिहास के पन्नों पर' आमुख

कि साहित्य जीवन का पूरक है और ऐतिहासिक साहित्य में विचारणीय है। उपाध्याय साहित्य को जीवन दर्शन का आधार है, तथा परिस्थितियों का नियामक बताते हैं।

साहित्य प्रत्येक वस्तुस्थिति को नये तौर पर सृजित करता है। उपाध्याय ने साहित्य को लोक मंगल से समन्वित करते हुये लिखा है कि साहित्य यदि सच्चे अर्थो में प्रगतिशील है तो सदैव जीवन को अधिकाधिक निकट से देखेगा और मानवीय उपकरणों के विकास और कल्याण पर जोर देगा। इस प्रकार उपाध्याय का दृष्टिकोण मानवतावादी है, वह मानव को आदर्श मानते हैं और उसकी वर्तमान स्थिति को अधिक सुन्दर बनाने के पक्षपाती हैं।

डॉ0 उपाध्याय प्राच्य एवं पाश्चात्य साहित्य के प्रकाण्ड पण्डित हैं। इतिहास के गहरे मर्मज्ञ होने के कारण उपाध्याय जी ने साहित्य का इतिहास और समाजशास्त्र के प्रकाश में बड़ा ही सटीक विश्लेषण किया है। वैसे तो उनकी आलोचना का क्षेत्र भारतीय संस्कृति और इतिहास ही रहा है, फिर भी उन्होंने हिन्दी साहित्य पर अपना लोकप्रिय ग्रंथ 'खून के छींटें इतिहास के पन्नों पर' लिखकर बहुत ही विलक्षण एवं तात्विक समाजवादी कार्य किया है। उनके फुटकर लेखों में यत्र–तत्र जनवादी आलोचना की छाप दृष्टिगत होती है। इन सभी लेखों का मूलाधार भारतीय रसशास्त्र, पाश्चात्य सौन्दर्यशास्त्र तथा ऐतिहासिक भौतिकवाद का समन्वय है।

डॉ0 उपाध्याय की यह कृति साहित्य के प्रति मानोन्मुखी संहिता है, जिसमें उन्होंने युग की आर्थिक, राजनैतिक और सामाजिक परिस्थितियों का चित्रण किया है तथा कालिदास के साहित्य को पारस्परिक प्रतिमानों की कसौटी पर न कसकर ऐतिहासिक और समाजशास्त्रीय पद्धति से परिमापित किया है।[1] उपाध्याय जी में उद्‌भुत ऐतिहासिक चेतना है और समाज के ऐतिहासिक विकास में उनकी अपार आस्था है। ऐतिहासिक विरासत को साहित्य क्षेत्र में अवतरित होते हुए उन्होंने देखा है। ऐतिहासिक दृष्टि से साहित्य के क्षेत्र में आने वाली सभी प्रवृत्तियां तत्कालीन परिस्थितियों, आवश्यकताओं तथा विकासक्रम की अगली श्रृंखलाओं की देन होती है। प्रो0 उपाध्याय का मत है कि किसी भी साहित्यिक प्रकृति को पूरा–पूरा किसी दूसरे देश के राजनैतिक या साहित्यिक क्षेत्र का प्रभाव कहना उतना ही ठीक है, जितना की समाजशास्त्रीय आन्दोलन को काल सापेक्ष कहना।[2]

उपाध्याय ने आधुनिक साहित्य पर भी कुछ समीक्षात्मक लेख लिखे हैं। इन लेखों में 'नदी के द्वीप' (अज्ञेय का उपन्यास) 'सुहागिन' (विधावती मिश्रा की काव्य कृति) 'ज्ञान दान' (यशपाल की कहानी का संग्रह) आदि विशेष उल्लेखनीय हैं। इन लेखों में इन्होंने दो प्रकार की कलाओं का विवेचन किया– सर्वहारा वर्ग की कला और आभिजात्य वर्ग की कला। सभी लेखों में वाद का आग्रह न होते हुये भी उनकी समाजवादी पकड़ शक्तिवान है। वस्तुतः उनमें शुक्ल जी जैसी पैनी–दृष्टि है। नन्ददुलारे जैसी सौन्दर्य संवेदना है, हजारी प्रसाद

---

1 कालिदास का भारत प्राक्थन
2 कालिदास का भारत प्राक्थन

द्विवेदी जैसी मानववादी–चेतना है। मुंशी प्रेमचन्द जैसी, समाजवादी अवधारणा भी विद्यमान है।

श्री रामधारी सिंह दिनकर कृत प्रस्तुत ग्रंथ युगबोध के संदर्भ में विशिष्ट है, इसमें इक्कीस आलोचनात्मक लेखों को क्रमशः विवेचित किया गया है। साहित्य में आधुनिकता मूल्य सम्प्रेषण को विवेचित करते हुये दिनकर जी ने लिखा है –''यह आधुनिकता की वह धारा है जो भारत में खुद ब खुद उत्पन्न हुई थी किन्तु जिस आधुनिकता को हम यूरोप से सम्बद्ध मानते हैं उसका प्रवेश इस देश में 19वीं शदी में हुआ और उसके साथ–साथ टकराने से भारतीय संस्कृति के भीतर ऐसी खलबली मची थी कि कोई 30 वर्षो के भीतर एक ऐसी क्रान्ति का अनुभव उसने सारे इतिहास में किया था।[1] कवि दिनकर कृत प्रस्तुत ग्रंथ में गम्भीर और तात्विक विवेचन है। यह ग्रंथ आधुनिक हिन्दी साहित्य का सुखद आश्चर्य है जिसका ऐतिहासिक महत्व है। कवि दिनकर ने वैचारिक क्रान्ति से मार्क्सवादी विचारधारा को समीक्षा क्षेत्र में अवतरित किया है। दिनकर जी ने एक प्रबुद्ध विचारक की भांति कला और विज्ञान को अनुशीलित करते हुए लिखा है–कला और विज्ञान की तुलना से यह मालूम होता है विज्ञान सतत् प्रगतिशील है, उसकी प्रगति की सम्भावनायें भी बहुत बड़ी हैं.........समय ज्यों–ज्यों व्यतीत होता है विज्ञान अपनी पिछली ऊँचाई से और भी ऊँचा उठता जाता है मगर समय ज्यों–ज्यों बीतता है साहित्य की ऊँचाई छिजती जाती है।[2] प्रस्तुत मान्यता

---

[1] साहित्यमुखी, पृ0 174
[2] साहित्यमुखी, पृ0 8

में दिनकर जी ने प्राचीन साहित्य और आधुनिक विज्ञान को महत्ता प्रदान की है। इसके साथ ही समाजशास्त्रीय पद्धति में काव्य को सामाजिक अभिव्यक्ति देने का उपक्रम कवि दिनकर ने किया है। काव्य रचना मूलतः अपने सामाजिक धरातल को उदात्त बनाती चलती है, कलाकार निरा व्यक्ति नहीं सामाजिक भी है। निसंदेह उसका समाज के प्रति भी वही उत्तरदायित्व होता है जो कलाकार का कलावत्ता के प्रति। कलाकार को अमीर और गरीब, सुखी और दुःखी पीड़ित और पीड़क दोनों के बारे में समान ही लिखने का अधिकार है, यही कलाकार की व्यापक अनुभूति है।

सामयिक साहित्य सांस्कृतिक उल्लास समाजवादी रचनाकारों की पंक्ति–पंक्ति में फूटा पड़ता है। वस्तुतः दिनकर की वह कृति सांस्कृतिक अन्वेषण की पहल है। हमारे देश में सांस्कृतिक एकता की भावना छिन्न–भिन्न होने के बावजूद भी मध्य युग के अन्त में और सांस्कृतिक पुननिर्माण के आरम्भ में एक जैसी है। सामाजिक–जीवन का वैषम्य उच्च वर्गो और नीच जातियों का आंतरिक द्वन्द्व अर्थात उस युग का वर्ग संघर्ष जनसाधारण की लोकचेतना में ज्यादा होता गया। चिन्तन की प्रक्रिया में संस्कृति को मिलती–जुलती अवधारणा सदैव एक रहती है। इसलिये कवि, लेखक, काव्य रचते–रचते समय संस्कृति के छोर को पकड़े रहता है, जिसका गहराई के साथ विवेचन करते हुये कवि दिनकर ने ऐतिहासिक एक वृत्त खीचा है जो अपने पूर्वज और उनकी रीति–नीति को स्पष्ट करता है।

मुंशी प्रेमचन्द मार्क्सवादी विचारकों के एकमत प्रतीत होते हैं। वह साहित्य को प्रचार का माध्यम स्वीकार कर लेते हैं और निश्चय ही उनका यह साहित्य उद्देश्य, व्यक्ति, समाज और राष्ट्र के आर्थिक एवं राजनैतिक उद्देश्यों की प्राप्ति एवं रक्षा से संन्निहित है, जिंसकी घोषणा समय–समय पर वह करते रहते हैं।[1] मुंशी प्रेमचन्द देखते हैं कि चारों ओर भयंकर क्रन्दन हो रहा है। दुःख और दरिद्रता का नग्न–नृत्य दिखाई दे रहा है, ऐसी स्थिति में लेखन कला को मात्र आदर्श कैसे समझा जा सकता है। साहित्य का उद्देश्य मानव जीवन हित के लिये है, राजनैतिक, सामाजिक और आर्थिक प्रश्न उन्हें यथार्थोन्मुखी बनाते हैं, जिनके कारण मानव जीवन का उद्देश्य व्यावहारिक हितवादी रूप है। प्रेमचन्द ने इस उत्तरदायित्व का निर्वाह किया और कहा है कि जिस साहित्य में हमारे जीवन की समस्यायें न हों, हमारी आत्मा को स्पर्श करने की शक्ति न हो, जो केवल मांसल भावों में गुदगुदी पैदा करने के लिये या भाषा चातुर्य दिखाने के लिये रचा गया हो, वह निर्जीव साहित्य है, सत्यहीन, प्राणहीन वह साहित्य जो हमें विलासता के नशे में डुबा दे, निर्जीव है।[2]

प्रेमचन्द ने मार्क्स के सिद्धान्तों का अध्ययन किया है। गोर्की की रचनायें समाजवादी धरातल को छूने वाली हैं, उन्हें उन्होंने पढ़ा है। इतिहास के सम्बन्ध में उनकी मान्यतायें वहीं हैं जो मार्क्स की हैं। इतिहास हमें निरन्तर होने वाले विकास की जानकारी कराता है। प्रेमचन्द ने इस सत्य को स्वीकार किया है। उनका मत है कि हमें तारीख से यह सबक न लेना चाहिए कि हम क्या थे,

---

[1] साहित्य का उद्देश्य, पृ0 38
[2] साहित्य का उद्देश्य, पृ0 199

यह भी देखना चाहिए कि हम क्या हो सकते थे। अक्सर हमें तारीख को भूल जाना पड़ता है। भूल हमारा भविष्य बनकर नही रह सकता।[1]

मार्क्सवाद धर्म, ईश्वर, आत्मा आदि को शोषण की प्रक्रिया का साधन मानता है तथा जगत का आधार पदार्थ को ठहराता है।[2] प्रेमचन्द भी मार्क्स के समान अनईश्वरवादी हैं। जीवन के अन्त तक उन्होंने ईश्वर की आवश्यकता स्वीकार नहीं की। उनका अभिमत है कि जब ईश्वर और देवताओं की सृष्टि का गौरव मजदूर, सेवकों के हाथों से निकलकर धनी स्वामियों के हाथों में आ गया तो ईश्वर और देवता भी मजदूरों की श्रेणी से निकलकर महाजनों और राजाओं की श्रेणी में जा पहुंचे, जिनका काम अप्सराओं के साथ बिहार करना, स्वर्ग से सुख लूटना और दुःखियों पर दया करना भारत में तो मजदूर देवताओं का कहीं पता ही नहीं।[3] ईश्वर की इस मान्यता पर उन्होनें विचार किया है। इस विवेचन में वह वैज्ञानिक की भांति विश्लेषण करते हैं। उनका विचार है कि प्रकृति का कोई रहस्य व्यक्ति छोटी सी अक्ल से नहीं सुलझा पाता तो उसे ईश्वर की याद आती है। ज्यों ही विज्ञान ने एक कदम और आगे बढ़ाया, उस रहस्य को समझा दिया। प्रेमचन्द जगत की घटनाओं से ईश्वर से कोई सम्बन्ध स्थापित करने का विरोध करते हैं।[4] धर्म की वास्तविकता का रहस्योद्घाटन करते हुए उन्होंने उसे भोजन का पर्याय कहा है। प्रेमचन्द धर्म

---

[1] साहित्य का उद्देश्य, पृ0 71
[2] Literature and Art, Page 11
[3] साहित्य का उद्देश्य, पृ0 130
[4] साहित्य का उद्देश्य, पृ0 83

और ईश्वर का विरोध इसलिये करते हैं कि इसके द्वारा गरीबों का अधिक शोषण होता है। प्रेमचन्द वर्ग संघर्ष की महत्ता एवं कारणों को स्वीकार करते हैं। वह मानते है कि वर्ग संघर्ष को उत्तेजित करके हमारा समाज जब क्रान्ति करने में सिद्ध होगा तभी शोषण की प्रक्रिया का अन्त होगा। उन्हें मालूम है कि शोषकों के मन में शोषितों के लिये तनिक भी सहानुभूति नहीं है। अल्प संख्यकों के साथ उनमें सहानुभूति नहीं है, उनका कथन है कि बड़ा हिस्सा तो मरने और खपने वालों का है और बहुत ही छोटा हिस्सा उन लोगों का जो अपनी शक्ति और प्रभाव से बड़े समुदाय को अपने वश में किये हुए है। उन्हें इस बड़े भाग के साथ किसी तरह की हमदर्दी नहीं, जरा भी रियायत नहीं। उसका अस्तित्व केवल इसलिए है, वह केवल पसीना बहाये, खून गिराये और एक दिन चुपचाप दुनियां से विदा हो जाये।[1]

प्रेमचन्द जी का समस्याओं के प्रति दृष्टिकोण सुधारवादी धीरे–धीरे क्रान्तिकारी होता चला गया है। अपने 'महाजनी सभ्यता' लेख के वह आर्थिक सम्बन्धों की गहराई में पहुंचे तथा मार्क्स की अर्थ सम्बन्धी मान्यताओं से प्रभावित हैं। प्रेमचन्द जी के यथार्थवाद में रोमान्स की भी स्वीकृत प्राप्त हुई है। आधुनिक हिन्दी कथा साहित्य के प्रणेता मुंशी प्रेमचन्द जो यत्नपूर्वक यथार्थवाद के दबाव से बचने के लिये रोमान्स की गली में घूमने नहीं गये, रोमान्स को उन्होंने छोड़ ही दिया, ऐसी बात नहीं, लेकिन अपने हृदयगत रोमान्स को अपने व्यवहार पर

---

[1] हंस सितम्बर, 1936

घटाघर देखा तथा दिखाया। प्रेमचन्द कला और साहित्य की उपयोगितावाद की दृष्टि पर विचार करते हैं। उन्हें त्रस्त मानवतावाद की वकालत करनी है, समाज की दृष्टि उसपर लागी है समाज में न्याय और सौन्दर्य के प्रति नवीन दृष्टिकोण जाग्रत करने का उत्तरदायित्व उन्ही का है साहित्य का काम समाज और व्यक्ति को ऊंचा उठाना है उसे नीचा गिराना नही।[1]

प्रेमचन्द ने लोकहित को सर्वाधिक महत्व दिया है वह उन्हीं तत्वों और अनुभूतियों को स्पृहीणीय माना है, जिससे लोक कल्याण होता है। प्रेमचन्द का विश्वास है "साहित्य का उद्देश्य जीवन के आदर्श को उपस्थित करना है जिसे पढ़कर हम जीवन में कदम–कदम पर आने वाली कठिनाईयों का सामना कर सकें अगर साहित्य से जीवन का साहित्य में सही रास्ता न मिले तो ऐसे साहित्य से क्या लाभ है। जीवन की आलोचना कीजिये चाहे चित्र खींचियें आर्ट के लिये लिखिये या ईश्वर के लिये, रहस्य दिखाईये या विश्वव्यापी सत्य की तलाश कीजिये अगर उससे हमें जीवन का अच्छा मार्ग नहीं मिलता तो उस रचना से हमें कोई लाभ नहीं। साहित्य का चित्रण अच्छे शब्दों से बुनकर सजा देने से अलंकारों से वाणी को शोभा मान बना देने से नहीं होगा। ऊँचे और पवित्र विचार ही साहित्य की जान है।[2]

मुंशी प्रेमचन्द आर्थिक, राजनैतिक और सामाजिक साहित्यिक एवं सांस्कृतिक विचारणा को सामयिक महत्व देते हैं। विकासवाद के आधार पर उन्होंने हमें एक भाषा की आवश्यकता और उपयोग समझाया है। जैसे–जैसे सभ्यता का विकास होता गया, वह स्थानीय भाषा में किसी सूबे की भाषा में जा मिलती है और सूबे की भाषा एक सार्वदेशिक भाषा का अंग बन जाती है। मुंशी

---

[1] साहित्य का उद्देश्य, पृ0 222
[2] साहित्य का उद्देश्य, पृ0 285

प्रेमचन्द राष्ट्रभाषा की समस्या को लेकर लिखते हैं कि जीवित भाषा तो जीवित देह की तरह बराबर बनती रहती है। शुद्ध हिन्दी तो निरर्थक शब्द है, जब भारत शुद्ध हिन्दू होता तो उसकी भाषा शुद्ध हिन्दी होती। जब तक यहां मुसलमान, ईसाई, पारसी, अफगानी सभी जातियां मौजूद रहेंगी, हमारी भाषा भी व्यापक रहेगी।[1] प्रस्तुत कृति में मुंशी प्रेमचन्द ने भाषा, समाज और साहित्य के रूपों को यथार्थवादी धरातल पर मूल्यांकित किया है।

श्री मन्मथनाथ गुप्त की प्रस्तुत कृति प्रगतिशील दृष्टिकोण को व्याख्यावित करती है। द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी, ऐतिहासिक परम्परा के सम्बन्ध में गुप्त जी सच्चे अस्तित्ववादी, सच्चे परीक्षक हैं। साहित्य उसी को कहना चाहते हैं जो प्रगतिमूलक हो अथवा सत् साहित्य हो। उन्होंने लिखा है कि प्रगतिवाद का अर्थ वही है जिसमें कवि या लेखक इरादा करके ऐसी कला या साहित्य की रचना करे जो प्रगति में हाथ बटावे यानि उद्देश्य मूलक साहित्य की रचना करे।[2] प्रगतिवाद शब्द का प्रयोग हिन्दी में चाहे जब हुआ हो, पर वर्तमान अर्थ में सामान्य रूप से यह सन् 1936 से हिन्दी साहित्य में प्रचारित होने लगा। प्रगतिवाद काव्य सिद्धान्त उपयोगितावादी मत का कट्टर प्रचारक है। मार्क्सवादी सिद्धान्तों की परिधि में आर्थिक परिस्थितियों और वर्ग संघर्ष की विभिन्न दशाओं के बीच रखकर साहित्य की इसमें परीक्षा की जाती है।

---

[1] साहित्य का उद्देश्य, पृ0 157
[2] प्रगतिवाद की रूपरेखा, पृ0 9

प्रगतिवादी शब्द समान रूप से दो अर्थो में प्रयोग होता है। एक तो राष्ट्रीय और सामाजिक कविताओं के लिये दूसरे मार्क्सवादी विचारधारा अनुशासित रचनाओं के लिये। प्रो0 गुप्त ने हिन्दी में प्रगतिवाद की परम्परा कबीर से दिखलाने का प्रयत्न किया है।[1] सामाजिक विषमताओं की ओर दृष्टिपात कर सारे समुदायों को एक सूत्र में बांध देने का उद्देश्य कबीर अपनी तत्कालीन सामाजिक तथा आर्थिक अवस्था के बीच लोक मंगल की भावना का अवस्थान करने के लिये प्रख्यात हैं। लेकिन वर्तमान प्रगतिवाद की एक निश्चित दृष्टि से जो समाज की सम्पूर्ण व्यवस्थाओं को अपने ही ढंग से देखती है समान्तर प्रगतिवाद भावना राष्ट्रीय और देशीय भक्ति में भी देखी जाती है। जिसके ज्वलन्त उदाहरण भारतेन्दु जी में देखे जाते हैं।

लोक साहित्य जनजीवन के घनिष्टतम रूप का परिचायक है, उसमें सामान्य जनता की मनोभावनायें सीधे–सीधे मार्मिकतापूर्ण शैली में अभिव्यक्ति पाती हैं। गुप्त जी को लोक साहित्य एक शक्ति रूप में दृष्टिगोचर होता है जो सभी युगों में इसलिये प्रगतिशील बने रहते हैं कि पीड़ित और पददलित जनता जहां एक ओर उनके माध्यम से अपने को अभिव्यक्त करती है और दूसरी ओर उनसे प्रेरणा ग्रहण कर जीवन्त शक्ति पाते हैं। गुप्त जी खण्डन मण्डन में अधिक व्यस्त रहे हैं उतने न सैद्धान्तिक विवेचन और न समाजशास्त्रीय समीक्षा में। वह अपनी समीक्षाओं में उदाहरण दे–दे कर केवल इतना स्पष्ट कर रहे हैं कि प्रगतिशील समीक्षा का कौन सा तत्व यहां स्पष्ट हो सका है।

---

[1] प्रगतिवाद की रूपरेखा, पृ0 94

स्पष्ट हो जाती है। चण्डीदास और विधापति शीर्षक लेख में उन्होंने युग परिस्थितियों और परिवेशात्मक सापेक्ष साहित्य परम्पराओं की द्वन्द्वात्मक दृष्टि और इन कवियों का सम्बन्ध न दिखाकर बंगला और हिन्दी में लिखी गयी अपने से पूर्व की आलोचनाओं का संकलन मानकर दिया है। जिससे इन कवियों को समझने में सहयोग के स्थान पर कठिनाई अधिक हुई है। राष्ट्रभाषा हिन्दी के सम्बन्ध में विचार करते हुए उन्होंने सतही दृष्टिकोण से विचार किया है। अतः अपनी समीक्षात्मक कृतियों के माध्यम से वे समीक्षक तो नहीं परन्तु प्रचारक अधिक दीख पड़ते हैं। वैसे मार्क्सवादी दृष्टिकोण के परिपालन करने वाले विचारक हैं, उन्होंने सामाजिक विचार भूमि पर वैचारिक समिति की वकालत की है और उसे आगे बढ़ाया है। उनका मत है कि वही प्रगतिशील साहित्य है जो विरोधी शक्तियों को क्षति पहुंचाता हो।[1]

प्रस्तुत समीक्षा ग्रंथ की भूमिका में कवि दिनकर ने लिखा है "मन्मथनाथ बाबू इतिहास के पण्डित हैं और द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के गहरे प्रेमी है। प्रगतिवाद के सम्बन्ध में उनका स्पष्ट रूप से वही मत है जो द्वन्द्वात्मक भौतिकवादियों का है। अतएव प्रगतिवाद के विरोधियों को वह आश्रय देना नहीं चाहते। असल में प्रगतिवाद का विरोध उन्हें सत्य और विज्ञान का विरोध ही भाषित होता है।[2] गुप्त जी साहित्य रचनाओं को प्रेरणा की देन मानते हैं। यह अनुप्रेरणा लेखक के अपने वश में नहीं होती, वरन् उस पर उस विचारधारा का

---

[1] प्रगतिवाद की रूपरेखा, पृ0 29

[2] साहित्य, कला और समीक्षा,–दो शब्द

अनुप्रेरणा लेखक के अपने वश में नहीं होती, वरन् उस पर उस विचारधारा का अनिवार्य प्रभाव पड़ता है, जिसकों वह दर्शन के रूप में स्वीकार कर चुका है। वह प्रगतिवादी साहित्य उसी को कहना चाहता है जो प्रगति का समर्थक हो अथवा सत् साहित्य हो।

प्रगतिवाद मार्क्सवाद को आधार मानकर चलता है। साहित्य के आधार पर ही समाज की प्रतिष्ठा होती है और प्रतिष्ठित समाज मानव का हितवादी रूप धारण करता है। सामाजिक सत्य और मानव जीवन सहज सम्बन्धित है। समाजशास्त्रीय पद्धति भिन्न–भिन्न देशों में एक ही रूप में लेकर नहीं चली बल्कि प्रत्येक देश की सांस्कृतिक परम्परा उसको प्रभावित करती रही। किसी भी देश का साहित्य सांस्कृतिक परम्पराओं से अछूता नहीं होता। प्रगतिवाद भारतीय परिवेश और सामाजिक यथार्थवाद की देन है। प्रमुख साहित्यकारों ने भारत इतर मार्क्सवादी साहित्य से प्रेरणा ग्रहण की है, जैसे कि गुप्त जी ने कला समीक्षा में जनमानस को तरगोषित किया है। साहित्य और समाज सम्बन्धी प्रश्न यथार्थवादी धरातल पर ही टिके हैं। प्रगतिशील साहित्य की निर्मलता हिन्दी साहित्य की स्वस्थ परम्परा है। प्रो0 गुप्त ने इस विचारणा को बखूबी स्पष्ट किया है।

हिन्दी समालोचक नाट्य परम्परा के परिपार्श्व में ही नाट्य जगत को देखने के लिये समाजवादी आधार ही लेता है। युग के श्रेष्ठतम साहित्य को जनजीवन से सम्बन्धित समझ कर ही आंका जा सकता है। नाट्य परक स्थिति

का आधुनिक युग में अच्छा समाकलन किया गया है। नाट्य संघर्ष में मानवीय दृष्टि को समझाते हुये मार्क्सवादी अवधारणा में प्रो0 गुप्त ने अपने विचार प्रकट किये हैं कि नाट्य कथा भी प्रायः उन्हीं मान्यताओं से एवं परिस्थितियों से उद्भूत हुई है जो कविता के रूप में उद्भूत हुई जो कविता के मूल में क्रियाशील रही। नाट्य साहित्य के विविध रूपों में युग वैषम्यजनित अकुलाहट और तड़फड़ाहट को स्पष्ट रूप से अभिव्यक्ति मिली। इसी अभिव्यक्ति के परिप्रेक्ष्य में मानव प्रवृत्तियों को नवीन परिवर्तित परिवेश में आकलन करने की ओर ध्यान गया, जिसके परिणाम स्वरूप युग पीड़ा की अभिव्यक्ति को नयी दिशा मिली। नाट्ककार युग की चेतना को मुखरित करने के लिये अकुला उठा। बौद्धिकता एवं आतुरता की गहनता के कारण नाटकों में यथास्थान रंगमंचीय अभाव रहा।[1]

युग बोध, युग चेतना, सामाजिक दायित्ववादी प्रवृत्तियों के नाम पर एकाकार हो गया। हर आदमी यथा समय अर्थ पीड़ित है। सामाजिकता की दृष्टि से वह अपने पर अंकुश रखे हुये है, परन्तु नाट्य साहित्य की चकाचौंध से लेख और चिन्तन में नवीनीकरण आया। साहित्य का साधारणीकरण तथा दृश्य काव्य में यथार्थ सत्य को समाज के बीच प्रश्रय दिया गया। इसमें संदेह नहीं है कि आधुनिक विद्रूपताओं और विषमताओं ने रेडिया, नाटक फैन्टैन्सी जैसी विधाओं को सामाजिकता के बीच जन सामान्य के लिये उपस्थित कर दिया है।

---

[1] नाट्य समीक्षा, पृ0 15

डॉ0 रघुवंश कृत प्रस्तुत कृति साहित्य के परिवेशात्मक रूप को विश्लेषित करने में सक्षम है। डॉ0 रघुवंश सामाजिक यथार्थवाद का समीक्षात्मक मान प्रगति मूलक मानते हैं। समसामयिक साहित्य में राष्ट्रीय उल्लास का वर्णन करते हुए उन्होंने मार्क्सवादी चेतना के अनुरूप लिखा है कि इस प्रकार यह वर्ग भारत की नवोदित राष्ट्रीय चेतना को सुधारवादी आन्दोलनों के रूप में जगा रहा था, जिसका एक ध्येय यह भी था कि क्षितिज सम्प्रदाय के दृष्टिकोण का सुधार करके उसे सुदेश के गौरव की भावना से भरा जाय।[1] राजनीति और संस्कृति साहित्यिक धरोहर है वे सामयिक तरीके से जनतन्त्र तथा लोक मान्यता की परख करते हैं। जनवादी राजनीति से लोक संस्कृति को कोई खतरा नहीं है। सर्वहारा संस्कृति मनुष्य से पूर्व संचित ज्ञान को आगे बढ़ाकर फलफूल सकती है। डॉ0 रघुवंश का साहित्य उन सांस्कृतिक मूल्यों को विकसित करने में मदद करता है जिनका सामयिक महत्व है। साथ ही सामाजिक आधार भी। डॉ0 रघुवंश के मतानुसार साहित्य के संदर्भ में कला संस्कृति और भाषी का अध्ययन आवश्यक है।[2]

साहित्य का पौधा सामाजिक जीवन की धरती पर उगता है। परिवेश तथा सामयिकता के झंकृत झरोखों से पाठकों की चेतना को झकझोरता है। डॉ0 रघुवंश का कथन है कि प्रगतिशील साहित्य जनता की तरफदारी करने वाला साहित्य है। राष्ट्र में संघर्ष और संक्रान्ति का युग उसी से सम्भव है।[3]

---

[1] साहित्य का नया परिप्रेक्ष्य, पृ0 91
[2] साहित्य का नया परिप्रेक्ष्य, पृ0 238
[3] साहित्य का नया परिप्रेक्ष्य, पृ0 25

जनवाद की रूपरेखा मानव मूल्यों की पीठिका पर खींचकर व्यक्ति तथा समाज के जीवन में सामन्जस्य तथा संतुलन बनाये रखती है।

डॉ० नामवर सिंह की प्रस्तुत कृति आलोचना साहित्य की विशिष्ट आलोच्य कृति है, जिसमें डॉ० सिंह ने कला और साहित्य को समाज के संदर्भ में देखा है। साहित्य की विविध विधाओं पर प्रकाश डालते हुये मार्क्सवाद को उन्होंने एक आदर्श रूप में स्वीकार किया है। उन्हें मार्क्स के द्वन्द्ववादी, ऐतिहासिक, भौतिकवादी तथा वर्ग संघर्ष की मान्यतायें स्वीकृत हैं। यह दूसरी बात है कि उन्होंने इन सारी मान्यताओं को लेकर हर साहित्यवाद के साथ समीक्षा निष्कर्ष तैयार नहीं किये, लेकिन उनका मानवतावादी दृष्टिकोण युग सत्य के अनुरूप है। उनका मत है ''जिसका मानवतावाद जितना ही स्पष्ट और मूर्त होगा उसके चित्रों में उतनी ही सजीवता होगी तथा उसकी भाषा में भी उतनी ही सहज स्वाभाविक गति होगी हम दूसरों को धोखा दे सकते हैं लेकिन अपने आप को नहीं जो साहित्यकार ऐसा करने का प्रयत्न करता है वह तमाम शिल्प ज्ञान के बावजूद अपनी कला को चौपट करता है, इसलिये विषयवस्तु पर जोर देने का सही अर्थ है मूर्त और ठोस रूप में युग सत्य को पहचानना।[1] प्रस्तुत कृति में डॉ० सिंह चाहते हैं कि साहित्य अपनी छवियों में सजीव सहज स्वाभाविक संवेदनीय और ओजस्वी होना चाहिए।

---

[1] इतिहास और आलोचना, पृ० 31–32

मार्क्स के भौतिकवादी ऐतिहासिक दृष्टिकोण को उन्होंने कुछ सीमाओं के साथ हिन्दी साहित्य के मूल्यांकन में अपनाया है। वह कृतियों के लेखे जोखे को तब तक उचित आधार पर नहीं मानते जब तक कि उसके पीछे ऐतिहासिक दृष्टिकोण न हो। इतनी मोटी सी बात भी लोगों के दिमाग में नही आती कि सम्पूर्ण साहित्यकार तथा साहित्य कृतियों का लेखा जोखा ही इतिहास नहीं है।[1]

डॉ0 सिंह की यह कृति छायावादी विवेचन में लोकदृष्टि की पहचान के लिए लिखी गयी है। लोक जीवन के समक्ष साहित्य को प्रस्तुत कर देने वाले साहित्यकार छायावाद में भी हैं। स्थल जगत को छोड़कर भले ही उन्होंने सूक्ष्म जगत की कल्पना की हो, लेकिन कला को उन्होंने जीवन के लिये ही माना है। कविता और कवियों की प्रतिभा का प्रयोग जनता में वीरता, आशा, उत्साह और शक्ति के संचार के लिये डॉ0 सिंह ने स्वीकार किया है। कवि निराला इस दृष्टिकोण से डॉ0 सिंह को चेतनावादी कवि दृष्टिगत होते हैं। उन्होंने अमरता का मंत्र फूंककर जनता में उत्साह और शक्ति का संचार किया है।[2] निराला ने स्वयं इस सम्बन्ध में लिखा है ''कवियों के हृदय निर्गत कविता रूपी उद्गार में इतनी शक्ति होती है कि उसका प्रवाह जनता को अपनी गति की ओर खींच लेता है। कवि की सुझायी बात जनता के चित्त में बैठ जाती हैं

---

[1] इतिहास और आलोचना, पृ0 134
[2] छायावाद, पृ0 4

प्रतिकूल विचारों का बल घटा देती है। जनता प्रायः वही सम्पत्ति सच मानती है जो कवि से प्राप्त होती है।[1]

साहित्य को जनता के ह्रदय के स्पन्दन के साथ जुड़ना चाहिये तभी साहित्य में वही शक्ति आ पायेगी जो दूसरों के ह्रदय को खींच सके। ह्रदय की यह एकता साहित्य की उद्देश्य पूर्ति का विधान करती है। राग का अर्थ आकर्षण है। लेकिन वह ऐसी शक्ति है जो साधारणीकृत होकर जन मन को अपनी ओर खींच ले। मार्क्सवादी समीक्षा ने भी इसे स्वीकार किया है। डॉ0 सिंह कहते हैं कि महान कला की टैक्निक अभिव्यक्ति सरस अनुभूतिपूर्ण तथा भावपक्ष की गरिमा के अनुकूल होती है।[2] कवि ने छायावादी कवियों की विलक्षण शक्ति को पहचानते हुए लोकवादी दृष्टि को सर्वोपरि रखा है।

डॉ0 नामवर सिंह ने प्रस्तुत कृति में काव्य के नये प्रतिमानों को विश्लेषित किया है। मनुष्य की विचारधारायें, भावनायें और अनुभूतियां वस्तुस्थिति से प्रभावित होतीं हैं। हमारा जनजीवन भले ही संसार व्यापी मानव मूल्यों के संकट में हो पर प्रबुद्ध साहित्यकार की विचारधारा और नये मूल्यों की अन्वेषण किस रूप में पल्लवित रहेगी। डॉ0 सिंह ने लिखा है कि संक्रान्ति और नये मूल्यों की छटपटाहट से आज का उदबुद्ध साहित्यकार जनमानस की विचारधारा को संवेदनशील बनाने में एकजुट है।[3] वे मानते हैं कि साहित्य को जनता का पक्ष धर्म लेकर चलना चाहिए। यह पक्षधारता इसलिये अनिवार्य है कि समाज में

---

[1] माधुरी, अगस्त, 1923
[2] माधुरी अगस्त, 1923
[3] कविता के नये प्रतिमान, पृ0 232

स्वार्थों का संघर्ष है, समाज दो भागों में विभाजित है—एक वर्ग शोषक है तो दूसरा शोषित। मानवता शोषित के साथ जुड़कर चलती है। अतः मानवतावादी लेखक सदैव ही शोषित का पक्षपाती होता है। रचना में सौन्दर्य वास्तविकता के अधिक से अधिक चित्रण से आती है। अपने दृष्टिकोण विशेष के बावजूद महान लेखक अपनी व्यापक मानवीय सहानुभूति के द्वारा वास्तविकता के विविध स्तरों का व्यापक परिचय प्राप्त कर लेते हैं और उनके चित्रण से र.चना महान हो उठती है। समाज और साहित्य का सम्बन्ध स्थापित करते हुये उन्होंने आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियों पर भी बल दिया है।

डॉ0 नामवर सिंह सामयिकता के माध्यम से ही शाश्वत साहित्य की रचना के पक्षपाती हैं। अपने समय. की समस्याओं से अलग रहकर अथवा भागकर कोई शाश्वत साहित्य की रचना नहीं कर सकता है।[1] वह समाज के लिये उभरने वाले तत्वों को साहित्य में विकसित देखना चाहते हैं।

[1] आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियाँ, पृ0 96

(ख) समीक्षा दर्शन :

मानवतावादी साहित्य की दृष्टि मनुष्य के सुख दुःख पर है। उसके सृष्टा वही लोग हैं जिन्होंने अपने जीवन में अकथ्य कष्ट सहे हैं। व्यक्ति और समाज को जब मूल्यों की प्रतिष्ठा दी जाती है तब सौन्दर्यबोध स्वतः ही प्राणवन्त बन उठता है। अमृतराय ने इसे स्वप्न के स्वर्णिम विहान की ओर अग्रसर होने की क्रिया कहा है।[1] यथार्थवादी साहित्य एक ओर मानव मूल्यों की प्रतिष्ठा करता है तो दूसरी ओर उसमें लोक मांगलिक सौन्दर्य बोध छिपा होता है। जब हमारा पथ प्रदर्शक होता है और हमारे मनुष्यत्व को जगाता है, उसमें सद्भावों का संचार रहता है। यहां पर मुंशी प्रेमचन्द ने जिस प्रकार के कथा साहित्य में पात्रों की सृष्टि की है, उनमें सौन्दर्य शास्त्रीय दृष्टि श्रमिक और शोषित जीवन में अधिक आवध्य हो गयी है। अपने युग के साहित्यकार को सम्बोधित करके यह युगदृष्टा समीक्षक के रूप में वह बताते हैं कि अगर उसकी सौन्दर्य देखने वाली दृष्टि में विस्तृत आ जाये तो देखेगा कि रंगे होठों और कपोलों की आड़ में अगर रूप गर्व और निष्ठुरता छिपी हैं तो इन मुरझाये हुये होठों और कुम्हलाये हुये गालों के आंसुओं में त्याग श्रद्धा और कष्ट सहिष्णुता है। हाँ उसमें नफरत नहीं, दिखावा नही, सुकुमारिता नहीं।[2] सामाजिक संदर्भ एक ओर सौन्दर्य से जुड़े होते हैं तो दूसरी ओर मानव मूल्यों की धरोहर को केन्द्रित करते हैं। कोई साहित्य

---

[1] नई समीक्षा, पृ0 31
[2] कुछ विचार, पृ0 22

किसी भी मान्यता को लेकर चलने वाला हो, समाज से अलग होकर मानव मूल्यों की प्रतिष्ठा नहीं कर सकता है।

साहित्य में मानवीय अनुभूतियां भावनायें और संवेदनायें मूर्तिमान रहती हैं जिनमें परिवर्तन बहुत कम रहता है। किन्तु युग के बदल जाने पर सौन्दर्य बोध स्वतः ही बदल जाता है। युग पदार्थ जहां साहित्य की नयी रचना को प्रेरित करता है वहां युगानुरूप सौन्दर्य बोध भी देता है। इतना होने पर भी एक युग का पाठक दूसरे युग के पाठक को साहित्य से आत्मसात करने में अक्षम होता है, क्योंकि पाठक की मनोवृत्ति सौन्दर्य को परखने की दृष्टि से युक्त होती है। प्रतीत यह होता है कि काव्य का कला पक्ष और भाव पक्ष ऐसा सौन्दर्य बोधीय समन्वित रूप है, जिसमें समाज उपयोगी अभिव्यक्ति सदैव रहती है। डॉ0 नामवर सिंह सामाजिकता का महत्व बताते हुये कविता में महान विचारों की सौन्दर्य बोधीय अभिव्यंजना को वर्णित करते हैं।[1] प्रगतिशील साहित्य लोक जीवन के बहुत निकट होता है। समीक्षा क्षेत्र में उसका जीवन सौन्दर्यबोधीय तत्वों से जुड़ा रहता है, जिनमें वह यथार्थपरक साहित्य की रचना करता है।

प्रगतिवाद अपनी द्वन्द्वात्मक प्रणाली के अनुसार सौन्दर्यबोधीय के चिन्तन को अवधारित करता है और सिद्ध करता है कि विशेष और सापेक्ष सत्य व्यक्तिगत, समाजगत और वर्गगत होते हैं, उनकी द्वन्द्वजनक पारस्परिक साहित्य

---

[1] इतिहास और आलोचना, पृ0 26

को नया आयाम प्रदान करती है। इसी विशेष और सामान्य की द्वन्द्वात्मक अन्वित से सौन्दर्य और जीवन के मूल्य बनते हैं, जिसके कारण मनुष्य के सामाजिक और व्यक्तिगत जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में कला और साहित्य का स्थाई महत्व होता है। समाजशास्त्रीय समीक्षक सौन्दर्यबोध और मानव मूल्यों की प्रतिष्ठा इन्हीं संदर्भ में करता है। मार्क्सवादी समीक्षा सिद्धान्त समकालीन साहित्य में एक ओर रूचि को जगाता है तो दूसरी और वस्तुगत वास्तविकता का महत्वपूर्ण चिन्तन करता है। जिसमें आधुनिक जीवन की वास्तविकता का इतना गहरा और व्यापक चित्रण हुआ है कि उसमें स्थायित्व के तत्व मौजूद हैं। यदि कोई साहित्यकार विशाल जनता के जीवन का चित्रण करना चाहता है तो उसे भी व्याधित असंगतियों को नजरअन्दाज करना होगा। केवल सत् साहित्य और प्रगतिशील लेखन प्रक्रिया से यह सम्भव है। श्रेष्ठ साहित्य मानव मूल्यों की प्रतिष्ठा में रोटी, कपड़ा आदि की मान्यतायें समस्याओं को समाधान की ओर उन्मुख करती हैं।[1]

आदर्शवाद हमें उठाकर अतीत के प्रति आकर्षित कराता है। भारत का प्राचीन साहित्य आदर्शवाद का ही समर्थक है। हमें भी अतीत के आदर्श के प्रति समर्पित होना चाहिए, लेकिन कोरे आदर्शवाद से भयावनी और काल्पनिक स्थिति बन सकती है। मुंशी प्रेमचन्द ने यथार्थवादियों के कथन को स्पष्ट करते हुये लिखा है कि आदर्शवाद पूरा वाद है। यद्यपि आदर्शवाद हमें उठाकर अतीतोन्मुखी बना देगा, लेकिन जिनमें जीवन ही नहीं हैं, ऐसे चरित्रों को पढ़कर

---

[1] साहित्य, कला और समीक्षा, पृ0 76

हम क्या करेंगे। किसी देवता की कामना करना मुश्किल नहीं है, और उस देवता में प्राण–प्रतिष्ठा करना कठिन है।

प्रेमचन्द ने कलावादी मान्यताओं को भी इसी कारण उपयुक्त नहीं समझा क्योंकि वे आज की भारतीय परिस्थितियों में अनुकूल नहीं है। कलावाद क़ा विरोध परिवेशात्मक स्थिति को आधार बनाकर होता है। जब हम देखते हैं कि आज की सामाजिकता के भीतर राजनैतिक, सामाजिक बन्धन हैं, जिधर नजर उठती है उधर ही दुःख और दरिद्रता के दृष्य दिखाई देते हैं। तब अतीतोन्मुखी सामाजिकता कैसे सम्भव है। कालिदास और वाल्मीक या किसी पुराने साहित्यकार की उद्‌देश्य परकता को हम कैसे हासिल कर सकते हैं।[1]

साहित्य समाजशास्त्रीय अंग है। साहित्य समाज का घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित करने वाली विचारधारा कभी भी निरपेक्ष नहीं हो सकती। विचारधारा का विकास किसी सीमा में ही होता है। कलाकार समाज के सम्बन्ध को गतिशील रूप देकर जीवन दृष्टि देता है। कलाकार की स्थिति, परिस्थति सापेक्ष अवश्य है पर वह अतीत के धरातल पर जीवित रहने के लिये उत्साही बनता है। वह अपनी कृतियों में तत्कालीन आर्थिक, सामाजिक परिस्थितियों का ज्यों का त्यों प्रतिबिम्ब उतारता है, परन्तु धरातल उसका अतीतजीवी होता है।[2]

[1] साहित्य का उद्‌देश्य, पृ0 222
[2] नई समीक्षा, पृ0 14—15

हिन्दी साहित्य में प्रगतिशील तत्व सामाजिक, आर्थिक परिस्थितियों की देन तो है ही, साथ ही अतीतजीवी परम्परा के समर्थक भी हैं। उन्होंने नयी राह का अन्वेषण किया और काव्य को सामाजिक महत्व की वस्तु बनाया। उनका प्राचीन प्रतिमान संकुचित सीमाओं का अतिक्रमण कर समाजवादी भावनाओं से आपूरित होना चाहता है। द्वन्द्ववादी ऐतिहासिक तत्वपरक योजना में साहित्य की परिधि में अतीत के प्रति सामाजिकता का अपना महत्व है। डॉ० सिंह ने प्रगतिशील साहित्य के विषय में लिखा है कि अतीत के आधार पर सामाजिकता की आवश्यकता पर प्रगतिवाद हिन्दी में अपने समय पर ही पैदा हुआ। ऐसे समय जब हिन्दी जाति और साहित्य की जमीन उसके अनुकूल तैयार हो गयी थी।[1] उनकी यह धारणा सत्य है कि प्रगतिवाद अपने युग की स्वाभाविक आवश्यकता थी जो भारतीय मिट्टी से अंकुरित होकर पल्लवित हुई। उन्होंने प्रगतिवादी आन्दोलन पर प्रकाश डालते हुये बताया है कि उसके साहित्य में शोषित जनता के लिये देश के लिये यथार्थ परिस्थितियों के लिये अन्तर्राष्ट्रीयता के लिये आर्थिक और सामाजिक जागरूकता के लिये विशेष जोर दिया गया है। साहित्य को सामाजिकता का ध्यान करना चाहिए और अतीत के दमनीय दृष्टिकोण के प्रति जनता को संघर्ष के लिये आमन्त्रण देना चाहिए। समाजशास्त्रीय समीक्षा इस दृष्टि से सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। साहित्य को शक्ति जनता से मिलती है। जो साहित्य जनता से जितनी घनिष्ठता के साथ जुड़ा रहता है, वह उतना ही अधिक सुन्दर, मार्मिक, शक्तिशाली एवं जनप्रेरित बन जाता है। साहित्य

---

[1] आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियाँ, पृ० 60

यथार्थानुभव आदर्शवादी कल्पना अतीत के आधार पर ही करता है। यद्यपि अतीत का सौन्दर्य शास्त्रीय मान्यता दरिद्र है। महान साहित्य जीवन को वास्तविकता के निकट पहुंचाता है। मानव अनुभूतियों को युग यथार्थ के सत्य चित्रित करता है।

साहित्य में समाज के ऐतिहासिक और वर्तमान कालीन ऐसे चित्र हैं जो मानव समाज के भावी स्वरूप को निर्धारण करने में सहायक बनते हैं। वर्तमान काल के साहित्य को आज की समस्याओं से अनुप्राणित और उनकी भावी निराकरण दृष्टि से युक्त देखना चाहिए।

साहित्यिक परम्पराओं युग की सांस्कृतिक, सामाजिक और राजनैतिक परिस्थितियों के प्रति भी साहित्यकार के मानस पर इनका प्रभाव पड़ता है। युग स्वर और साहित्य सौन्दर्य तत्कालीन वातावरण में पल्लिवित रहते हैं, यह विकास साहित्य और मानव कर्मी है। अमृतराय युग स्वर में आर्थिक विकास को महत्वपूर्ण मानते हैं। उनका मत है कि प्रत्येक विचारधारा अपने युग के आर्थिक विकास का परिणाम होती है।[1] युगीन परिस्थितियों का समाज सापेक्ष महत्व साहित्य में दृष्टिगत होता है। आज का आलोचक कृतिकार की परीक्षा सामाजिक स्थितियों का समाज सापेक्ष महत्व साहित्य में दृष्टिगत होता है। आज का आलोचक कृतिकार की परीक्षा सामाजिक स्थितियों उसकी व्यवस्था और युगीन परिस्थतियों के विकास में ही करता है। समाज जहां कतिपय मूल्यों को निर्धारित करते हैं वहां उसे युगीन रूप में कुछ मूल्यों का और भी निर्माण करना

---

[1] नई समीक्षा, पृ0 13

होता है और यदि पारस्परिक जीवन मूल्य युगीन परिस्थितियों के अनुसार ह्रासोन्मुखी है तो प्रगतिशील समाज उक्त मूल्यों को त्यागने में भी नही हिचकता है।

यदि हम साहित्य के इतिहास पर दृष्टि डालें तो देंखगे कि कला के इन रूपों प्रकारों पर युगीन रूप परिवर्तन होता रहा है और मनुष्य की साहित्यिक रूचि बदलती रही है। सुन्दर क्या है, इसका बोध निरन्तर बदलता और विकसित होता रहा है, इस दीर्घकाल में जो हम एक ही भावना पाते रहे हैं, वह है मानव जीवन के प्रति गहरी अनुभूति और साहित्यकला के माध्यम से उस गहरी अनुभूति को परखना ही सौन्दर्यबोध है। साहित्यकला का सम्बन्ध सीधा मानव जीवन से है। साहित्यकार युगीन रूप साहित्य की साधना करता है और वह वास्तविकता को प्रभावित करके युगानुरूप सौन्दर्यबोध को दिशा देने का प्रयत्न करता है। फिर भी एक युग का साहित्य सौन्दर्य बोध दूसरे युग के साहित्य को समझने में असमर्थ रहता है।

समीक्षक युग और समाज के प्रति अपना दायित्व समझता है। बिना युग विशेष और समाज की परिस्थितियों को जाने साहित्यिक मान एक ओर फीकें पड़ जाते हैं, दूसरी ओर सौन्दर्यबोध अकर्मण्य तथा निराशापरक हो जाते हैं। मुंशी प्रेमचन्द ने इस प्रक्रिया को जीवन में आयी हुई अभ्यास साक्ष्य बताया है।[1] जो पुरूषार्थी और कर्मण्य होते हैं वे युग स्वर को पहचानते हुये साहित्य सौन्दर्य का अवगहन करते हैं। कला विकासवादी सिद्धान्त से जुड़ी हुई है तथा

[1] हंस अंक–1943

युगानुरूप समाज के विकास के साथ उसकी उपयोगितावादी दृष्टि कला को परिमार्जित करती है। डॉ0 भगवत शरण उपाध्याय ने कला के लालित्य बोधीय धर्म पर टिप्पणी करते हुये कहा है कि साहित्य समाज़ का चित्रण करता है और युगानुरूप साहित्य सौन्दर्य को उदघाटित करता है।[1] मार्क्सवाद से प्रभावित युग नीति का चित्रण इन समाजवादी समीक्षकों ने किया है। साहित्य जनमुखर है। प्रगति की ओर उन्मुख होता हुआ वह सौन्दर्य सृष्टि को नियमन करता है। इसीलिये साहित्य में इतिहास समाज और दर्शन तीनों का मेल कतिपय मौलिक कल्पनाओं के साथ बना रहता है।

युग और समाज का सामयिक अध्ययन न होने पर समीक्षक सौन्दर्यबोध को सत्य रूप में प्रतिपादित नहीं कर सकता। लोकवादी साहित्य समाज द्वारा अनुमोदित होता है तथा कवि की भाव भूमि समाज द्वारा ही निर्मित होती है। उसकी संवेदन शक्ति समाज में होने वाले सूक्ष्म से सूक्ष्म परिवर्तन और उसके प्रत्येक स्पन्दन की अनुभूति करती है और उसकी व्यापक युगीन चेतना से मिश्रित कर सौन्दर्य भावों के विभिन्न प्रासादों से सजाकर उसे प्रेषणीय बनाकर अनुभूतियां समाज तक पहुंचती हैं।

जीवन की विविध परिस्थितियों और उसकी विभिन्न घटनाओं में नया जोश होता है। उस नये जोश की शैल्पिक उपलब्धि सांस्कृतिक पीठिका है। विचार समाज में चलने वाले आधारों पर टिके होते हैं। समाज के साथ ही कला

---

[1] खून के छींटे–इतिहास के पन्नों पर, पृ0 130

संस्कृति की विचारधारा भी बदल जाती है। किसी भी देश की संस्कृति राजनीति और आर्थिक व्यवस्था सामयिकता से बढ़कर आगे नही बढ़ सकती है। इसलिये सामन्ती आर्थिक व्यवस्था को पोषित करने वाली संस्कृति को पूंजीवादी संस्कृति कहते हैं और सर्वहारा वर्ग की लोक व्यवस्था को पल्लवित करने वाली संस्कृति को यथार्थवादी संस्कृति कहते हैं। संस्कृति का यह गुण है कि वह अपने आधार को सामयिक रूप से पुष्ट करे और हमारे विचारों की सृष्टि करते हुये अभिनव समाज को आगे बढ़ावे। प्रो० मन्मथनाथ गुप्त ने इस सांस्कृतिक दृष्टिकोण में जनचेतना का मुख्य आधार स्वीकार किया है। जन जीवन लोकपरक संस्कृति पर आधारित है। सामयिक प्रगतिशील पीड़ित और पददलित जनता की विचारधारा पर निर्भर होती है। प्रगतिशील साहित्य सांस्कृतिक पीठिका पर संस्कृति के महत्व को समझता है। फिर चाहे वह सोशलिष्ट हो या कम्युनिष्ट, चाहे कांग्रेसी।[1]

लोक साहित्य जनजीवन की सांस्कृतिक निधि है और उसमें समाजशास्त्रीयता प्रबल सम्भावनाओं के साथ उतरकर जनजीवन को अभिनव दिशा की ओर उन्मुख करती है। युग परिस्थितियों और परिवेशात्मक साहित्य परम्परा की द्वन्द्वात्मक दृष्टि सांस्कृतिक निधि को एक ओर उजागर करती है तो दूसरी ओर प्रगतिशील साहित्य को जाने अनजाने आगे बढ़ाती है और विरोधी शक्तियों को क्षति पहुंचाती है।

[1] साहित्य, कला और समीक्षा, पृ० 29

डॉ0 नामवर सिंह समाज और साहित्य का सम्बन्ध स्थापित करते हुये साहित्यिक पीठिका पर युग स्वर को पहचानते हुये लिखते हैं कि जो साहित्य सामयिक परिस्थितियों का चित्रण जितना अधिक करता है, उतना ही अधिक शाश्वत होता है।[1] सामयिकता के माध्यम से ही शाश्वत साहित्य की रचना की जा सकती है। अपने समय की समस्याओं से अलग रहकर अथवा भाग कर कोई शाश्वत साहित्य की रचना नहीं कर सकता। रचना जितनी अधिक सांस्कृतिक पीठका पर होगी उतनी ही मानवीय सहानुभूति से परिपूर्ण होगी। रचना का सौन्दर्यबोध सांस्कृतिक पीठिका से ही जुड़ा हुआ है। जो साहित्य संस्कृति से जितनी घनिष्ठता के साथ सम्बन्ध रखता है, वह उतना ही अधिक सुन्दर, मार्मिक, शक्तिशाली तथा जनप्रेरक बन जाता है। लेखक में शक्ति जनता से आती है। जनता के साथ उसका सम्बन्ध जितना ही घनिष्ठ होता है, उसमें उतना ही अधिक सौन्दर्यबोध बढ़ता है।

सामूहिक चेतना को नवीन प्रतीकों द्वारा उजागर करना तथा वस्तु और शिल्प को सामयिक प्रतिष्ठा देना कवि कर्म है। वह इन्हें ऐसे प्रेरक रूप से समाज के सामने प्रस्तुत करता है कि उन घटनाओं की विकृतियों को भूलकर उनमें अपनी शक्ति के अनुसार नया रंग भरे और समाज को अधिक प्राणवान बनाये। सांस्कृतिक पीठिका पर रचा हुआ साहित्य भूमि पर ही रहता है, उसका सौन्दर्य पाठक के मानस को झकझोर देता है और सामयिक रूपता को अधिक सुलभ बना देता है। संघर्षरत मानव की स्वस्थ शक्ति का मूल्यांकन सांस्कृतिक

---

[1] आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियाँ, पृ0 98

पीठिका पर ही सम्भव है। प्रत्येक युग अपनी सीमा में समाज का अधिक स्वस्थ प्राणवान और सुन्दर बनाने की चेष्टा करता है।

ऐतिहासिक द्वन्द्ववाद परम्परा एवं प्रगति का प्रारूप समाज के विकास की कहानी के साथ जोड़ता है। तत्कालीन समाज में कवि लेखक की दृष्टि अत्यन्त व्यापक और उदार होती है। देश काल और परिस्थिति से हो जाने वाले परिवर्तन के आधार पर निरन्तर विकसित परम्पराओं पर चलना श्रेयकर समझा जाता है। हिन्दी साहित्य में यदि प्रगतिवाद सार्वजनिक आन्दोलन बन सका तो उसका कारण द्वन्द्वात्मक परम्परा और प्रगति ही है। वस्तुतः जहां किसी सृजन का अवधान होता है वहां परम्परा के स्वरूप विषमान रहते हैं। यद्यपि अभिनव प्रयोगों को प्रगति का लक्षण न मानते हुये समाजवादी आलोचक विरोध करते हैं, परन्तु डॉ0 नामवर सिंह परम्परा एवं प्रगति में प्रयोगों के विरोधी नहीं है, वरन उनके समर्थक हैं, उन्हें प्रयोगशील प्रगतिवादी कहा जा सकता है। प्रयोगवादी कुछ मान्यतायें उन्हें स्वीकृत हैं, उन्होंने इस परम्परा का विवेचन सैद्धान्तिक रखा और प्रयोगवाद को रूपवादी कहकर यह प्रतिपादित किया कि प्रयोगवादी के पास कौशल तो यथेष्ट है किन्तु कहने के लिये कोई बात नहीं।[1] प्रयोगवाद में प्रयोगों का सम्बन्ध मुख्यतः शैली शिल्प से है। विषयवस्तु से शैली अर्थात वह कथन को महत्व देते हैं, कथ्य को नहीं और यही वह आधार है जिस पर प्रयोगवाद को प्रगतिवादी अस्वीकार कर देता है। प्रगतिशील काव्य

---

[1] इतिहास और आलोचना, पृ0 25

सामाजिकता के अंशों को परम्परा से लिये हुये हैं, प्रयोगवादी भी आंशिक रूप में सामाजिकता से अलग नहीं है। युग सत्य को पहचानते हुये प्रयोगवाद में परम्परा का स्वर उभरकर सामने आया है। जिसका जन जीवन और साहित्य से परम्परा तथा प्रगति के पारस्परिक समाकलन में स्थान है।

परिवर्तित समाज जहां नवीन रूप का आकांक्षी होता है, वहां परम्परागत मानवीय संवेदनाओं को अधिक यथार्थपरक बना दिया जाता है। आज की परिस्थिति में सच्चा प्रगतिशील साहित्य आदर्श और यथार्थ को समन्वित कर भावी समाज रचना को दिशा निर्देशित कर रहा है। डॉ0 रघुवंश विश्वास प्रकट करते हैं कि प्रगतिवादी न केवल कोरा यथार्थवादी होता है और न केवल पारम्परिक आदर्शवादी।[1] लोक जीवन और साहित्य का सम्बन्ध हमें दो अनिवार्य साहित्यिक विशेषताओं की ओर ले जाता है, वह है परम्परा और प्रगति। एक है समाज की पारम्परिक स्थिति में अंकन और दूसरी है वर्तमान परिस्थिति में साहित्य के द्वारा ऐसे स्तर तक पहुंचा देना कि अपेक्षित विकास हो सके। पहली मान्यता तो आदर्शवाद और दूसरी यथार्थवाद के निकट है। इसे ही प्रगतिवादियों की भाषा में समाजवादी यथार्थवाद कहा जाता है। इस समाजवादी यथार्थवाद में साहित्य की उन शक्तियों का संघर्ष दिखाया जाता है, जो विकास का आधार है। सच्चा प्रगतिशील साहित्य दोनों पक्षों का सम्यक् उद्घाटन करता है।

---

[1] साहित्य का नया परिप्रेक्ष्य, पृ0 65

प्रगतिवादी कला विलासिता का हिमायती नहीं है। यह मानवता विकासोन्मुख आदर्श प्रेरित किन्तु यथार्थ जीवन सामने रखता है। साहित्य को यह मनुष्य और उसकी परिस्थितियों के पारस्परिक संघर्ष का परिणाम मानता है। निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है कि प्रगति का आधार परम्परा ही है। जीवन की सापेक्षता और पूरकता प्रगतिवादी तथा परम्परावादी मान्यताओं में समिश्रित है। परम्परा एवं प्रगति के पारस्परिक समाकलन को परिवर्तित समाज की पीठिका पर दृष्यमान किया गया है, जिसमें नये समाज का साहित्य नये सौन्दर्यबोध से प्रयुक्त है।

आज की प्रगतिशील साहित्यिक विचारधारा में समष्टि के जागरण का रूप एक नये आयाम को उद्घाटित कर राष्ट्रवादी भावना के साथ प्रतिबद्ध हो गया है। राष्ट्र को प्रेम करने वाला और अपने राष्ट्र के अतिरिक्त श्रेष्ठ मानव को घृणा करने वाला समाजशास्त्रीय कभी नहीं हो सकता। प्रगतिवाद के साथ ही एक भ्रम है कि वह राष्ट्रीय भावना के विरूद्ध है। डॉ0 सिंह ने इस प्रश्न के उत्तर में यह सिद्ध किया है कि यह धारणा नितान्त निर्मूल है। प्रगतिवाद राष्ट्रीयता का विरोधी न होकर पूंजीवाद और सामन्तवाद का विरोधी है। प्रगतिवाद को जो लोग राष्ट्रीयता का विरोधी मानते हैं, वे भूल करते हैं। जनता के उन्नति के मार्ग में रोड़ा बनने वाले जो अन्य वाद हैं उनका विरोधी वह होता है राष्ट्रीयता का नहीं।[1]

[1] इतिहास और आलोचना, पृ0 182

मुंशी प्रेमचन्द राष्ट्रवादी, लेकिन समाजवादी लेखक हैं वह देशगत मनोभावों को समझते हुये वर्ग संघर्ष पर विचार करते हैं। रक्त क्रान्ति तथा युद्ध से प्रेमचन्द दूर नहीं हटते वरन् समाज कल्याण के लिये इसकी नितान्त आवश्यकता मानते हैं। उनका मत है कि रक्त क्रान्ति केवल मानवता की रक्षा ही नहीं वरन् कला संस्कृत एवं साहित्य दर्शन की रक्षा भी करती है। राष्ट्रीयता के स्वर पराधीन भारत की अंधविश्वासी धर्म परायणता तथा अंग्रेजों की नीतियों से मुंशी प्रेमचन्द में उभरकर सामने आई है। उनका मत है–"वाहरे ईश्वर भक्तों वाह क्या कहना तुम्हारी भक्ति का जो जितने जूते मारेगा भगवान उस पर उतने ही प्रसन्न होगें और जूतों से क्या होता है, बन्दुकें मंगाइयें और विद्रोहियों का अन्त कर डालिये। सरकार इस प्रकार के व्यवहार को परोक्ष रूप से प्रोत्साहन देती है और तुम धर्म द्रोहियो सब के सब बैठ जाओ और जितने जूते खा सको खाओ"।[1]

विचारधारा के समान ही साहित्य की उत्पत्ति समाज के भौतिक जीवन की परिस्थितियों से होती है। साहित्य जब एक बार प्रत्यक्ष हो जाता है तो फिर वह भौतिक जीवन के विकास में सहयोग देने लगता है। यह सहयोग प्रगति मूलक और परम्परा मूलक दोनों प्रकार का हो सकता है। साहित्यकार भावना का धनी होता है। वह विचारधारा को जीवन पद्धति के साथ आत्मसात करता चलता है। आज जैसे–जैसे जीवन पद्धति बदल रही है, उसी के अनुसार विचारधारा साहित्य एवं साहित्य की समीक्षा के सिद्धान्त भी बदल रहे हैं। इस परिवर्तन को

---

[1] कर्मभूमि, पृ0 203

समझकर ही प्रेमचन्द ने साहित्य का परम्परा प्राप्त मानदण्ड त्याग कर नवीन समस्याओं, स्थितियों एवं अनुभूतियों को प्रमाण मानकर मानदण्डों में क्रान्तिकारी परिवर्तन स्वीकार किया है। जनजीवन विचारधारा के इतने निकट होता है कि वह मनुष्यता की परिधि में समाहित हो जाते हैं। परिवेशात्मक स्वीकृति साहित्यकारों को देशभक्त बना सकती है और देशभक्त अपने देश के विरोधी राष्ट्रों को अपना शत्रु बना सकता है।[1]

साहित्य परिवेशजन्य होता है और सार्वभौम होता है। साहित्यकार बहुधा अपने देश, काल की विचारधारा से प्रभावित होता है। जब देश में लहर उठती है तो साहित्यकार के लिये उससे अविचलित रहना असम्भव हो जाता है क्योंकि साहित्य का आधार मानव जीवन है। लोकजीवन राजनीति और साहित्य का सम्बन्ध अनिवार्य रूप से घनिष्ठ मानकर कवि दिनकर ने अपनी प्रगतिशील दृष्टि का परिचय दिया कि साहित्यकार की विशाल आत्मा अपने देशबन्धुओं के कष्टों से विकल हो उठती है और उस तीव्र विकलता से रो उठता है पर उसके रूदन में व्यापकता होती है।[2]

वस्तुतः साहित्य विचारधारा का एक अनूठा और सटीक प्रतिरूप है उसे साहित्य से अलग नहीं किया जा सकता, उसमें मानवतावादी दृष्टि, देशवादी दृष्टि, विश्ववादी दृष्टि सभी सम्मिलित होकर युगबोध को प्रकट किया जा सकता है। साहित्य एक ओर समाज का सामयिक अध्ययन करता है तो

---

[1] कुछ विचार, पृ0 71
[2] साहित्य मुखी, पृ0 88

दूसरी ओर विचार और शिल्प की अभिन्नता से वह आपूरित होता है। समाजशास्त्रीय समीक्षक जीवन और साहित्य में इसी विचारधारा को अंगीकृत करते हैं। विचारधारा में युगों की प्रवृत्ति और युगीन साहित्य के तत्वों की समावृष्टि सदैव रहती है। कोई भी साहित्य अपने परिवेश से ही प्रेरणा ग्रहण करता है। किसी भी प्रकार की मान्यता से प्रेरित होकर साहित्य रचना की जाये किन्तु वह जीवन की भौतिक परिस्थितियों से अलग नहीं हो सकती। साहित्यकार विचारधारा युग को प्रभावित करता है और स्वयं भी प्रभाव सौन्दर्य से मण्डित हो जाता है। साहित्य चिन्तक अपने विचार और रचनाओं में गहराई से बैठकर अपने ही देश का नहीं विश्व को देखकर किसी मूल्य का निर्धारण करता है।

साहित्य पारस्परिक और प्रगतिमूलक विचारधारा का समावेशी रूप है। राजनीति, समाजनीति, इतिहासनीति तथा आर्थिकनीति पर साहित्यकार की दृष्टि लगी होती है। साहित्य रचना करने में ऐसी दृष्टि को वह बखूबी परामर्श देता है। साहित्य यथार्थ की सीमाओं को भी भेदकर उससे आगे बढ़ जाता है और महान अर्थ की प्रतिपादित रूपरेखा मानव हित में भर देता है। लोकसाहित्य सामूहिक जीवन की भावनाओं को उदात्तवादी बनाने में तभी सफल होता है जब उसमें रागत्व के साथ–साथ बुद्धितत्व की स्थिति स्वीकृत की गयी हो।

हिन्दी की समाजशास्त्रीय समीक्षा इन विचारकों के सर्वाधिक महत्व को वर्णित करती हुयी समाजवादी यथार्थवाद में विश्वास प्रकट करती है। मार्क्सवाद आर्थिक पीठिका पर संश्लेषित एक वाद है, जिसमें चेतना, जागरूकता,

मानव स्वतन्त्रता के साथ निरूपित की गयी है। इस विचारधारा के अनुसार साहित्य का मूल्यांकन उपलब्धि का आधार न होकर कलाकार के कल्पात्मक निर्माण एवं प्रतिमानात्मक रूप पर होना चाहिए। साथ ही वर्तमान कालीन समाजगत उद्भावनाओं को साहित्य के उस रूप में रंजित करना चाहिए जिसमें जीवन के विभिन्न रागात्मक चित्र उपस्थित हो जाते हैं।

सप्तम अध्याय

समाजशास्त्रीय एवं जनवादी हिन्दी के अन्य समीक्षक

मार्क्सदर्शन या मार्क्स विज्ञान की उत्क्रान्ति पूर्ण द्वन्द्वात्मक विचारधारा और साहित्य का वस्तुगत रूप का अन्तःसम्बन्ध जनवादी विचारात्मकता की सन्निहित का नया आयाम बहुविध रूप से साठोत्तरी समीक्षा विधा में अभिव्यंजित हो रहा है। हिन्दी साहित्य के साठोत्तरी दौर के समय भारतीय समाज के शोषक वर्ग का राजनीतिक, आर्थिक तथा सांस्कृतिक सम्बन्ध बहुत गहरा होता गया। पूंजीवादी देशों से राजनीतिक आर्थिक तथा सांस्कृतिक विचारधारायें विकृत रूप में हिन्दुस्तान में आयी। परिवेशजन्य परिस्थितियों का युद्धगत प्रभाव देश पर पड़ा। फलतः विचारधारा लड़खड़ा उठी। इतना ही नहीं कांग्रेस के पतन का इतिहास भी साहित्य समीक्षा के नये दौर को प्रभावित करता है। साठोत्तरी जनवादी हिन्दी समीक्षक अधोलिखित कृतियों के माध्यम से प्रख्याता बनें :—

(क) समीक्षा साहित्य :

मुक्तिबोध प्रतिबद्ध कला के प्रतीक प्रो0 चंचल चौहान कृत प्रस्तुत आलोच्य ग्रंथ मुक्तिबोध के काव्यलेखन सिद्धान्त को वर्णित करता है। मुक्तिबोध ने निम्न मध्य वर्ग की चेतना में व्याप्त आत्म संघर्ष को कई कविताओं में नाटकीय ढंग से प्रस्तुत किया है। वे इस आत्म संघर्ष को नये कवियों की तरह अनिर्णय की स्थिति में नहीं छोड़ते वरन् वे काव्य विकास की पूरी द्वन्द्वात्मकता

को पहचानते हैं। निम्न मध्य वर्ग की चेतना का ऊहापोह उनके काव्य में पूर्णतः के साथ प्रतिबद्ध है। मुक्तिबोध शोषित मध्य वर्ग के हमदर्दों के साथ सर्वहारा का सहयोगी बनने की सलाह देते हैं। प्रो0 चौहान का मत है "मध्यवर्गीय बुद्धिजीवियों के कुछेक ने गांधीवाद का जामा पहन लिया और शोषण व्यवस्था के अंग बन गये।"[1]

यथार्थवाद ने समाज पक्ष में मार्क्सवाद को पकड़ा और व्यक्तिपक्ष में फ्रायड को। मार्क्सवाद का आधार लेने पर यथार्थवाद के विभिन्न रूप हैं। मार्क्स ने यथार्थ को अपना रूप बनाया और उसकी प्राप्ति के लिये समाज की विषमता का चित्रण किया। विषमताओं के इस चित्रण से वह उस व्यवस्था के प्रति घृणा उत्पन्न करना चाहता था, जिसमें वे विषमतायें सहज रूप में चलतीं आ रही थीं। उसने समाज के अन्तर्गत प्रभाव दिखाने वाले आर्थिक कारणों की व्यवस्था की ओर शोषण के रूपों को दिखाया है। जनवादी लेखकों को अगुआ बनाने के लिये समाजवादी संरचना का ज्ञान आवश्यक है।

मुक्तिबोध के साहित्यिक परम्परा पर दृष्टिबोध करने पर यह स्पष्ट होता है कि साहित्यिक युगों में किसी विशेष मानवीय विश्वास को प्रेरणा मिलती रही है। मुक्तिबोध पिछले पन्द्रह वर्ष से साप्रासांगिक चर्चा हुई है, उसमें जनबोधीय प्रतिस्थापन विशेष रूप से स्मरणीय है। इधर युवा साहित्यकारों ने क्रान्ति सम्पन्न जनवादी संघर्षो को विविध तत्वों में समायोजित किया है। परिणामस्वरूप रचनाकार की आत्मस्थिति का तत्कालीन संदर्भो में विशेष विवेचन

---

[1] मुक्तिबोध, प्रतिबद्ध कला के प्रतीक, पृ0 141

हुआ है। मानव मुक्ति विचार परम्परा का मुक्तिबोध को अक्षय बट कहा गया है यद्यपि परिवेश में उलझाव है, जटिलता है तथा मौन संवेदना है।

मध्यवर्गीय बुद्धिजीवी चेतना को उन्होंने आत्म प्रलाप के उस क्रान्तिदर्शिता से प्रतिबद्ध किया है, जिसमें दो परस्पर विरोधी विचार विकल्प शोषित मध्य वर्ग के अन्तर्मन एक साथ-साथ कराहते रहे। प्रो0 चौहान का मत है कि मुक्तिबोध ने अपनी अन्य कविताओं में भी इसी प्रकार अर्थगर्भित एण्टीथीसिस की समायोजना की है। लालफूल सर्वहारा की क्रान्तिकारी चेतना के प्रतीक के रूप में उनके काव्य सर्वत्र प्रयोग हुये हैं।[1] दो विचारधाराओं के द्वन्द्व का प्रतीतात्मक चित्रण मुक्तिबोध ने किया है। जिनके बीच शोषित मध्यवर्गीय शोषित बुद्धिजीवी संघर्षशील हैं। इन दोनों में से जनता को एक का चुनाव करना होगा। तभी शोषित वर्ग का होकर वह शोषक वर्गो की विचारधारा का वरण करेगा या तटस्थ रहेगा।

जनवादी लेखकों की यह कृति सौन्दर्यबोध के कोई शाश्वत नियमों को निर्धारित नहीं करती, चिरकाल से चली आयी सौन्दर्यबोधीय अवधारणा का इन्होंने डटकर मुकाबला किया है और दो दशकों के इतिहास के परिणाम स्परूप काव्यशास्त्रीय सौन्दर्यबोध अलग हटकर समकालीन सौन्दर्यबोध को पहचाना है। वैसे यह एक शुभ लक्षण है कि काव्य की स्वतन्त्रता का मुक्ति आन्दोलन इसी समय उपस्थित हुआ। आवश्यकता के अनुकूल नये पारिभाषिक शब्द रचनात्मक में

---

[1] सौन्दर्यशास्त्र, पृ0 7

गढ़ लिये गये। प्रगतिवादी, जनवादी विचारधारा एक ओर सांस्कृतिक पीठिका पर विद्रोही स्वर को लेकर आयी है तो दूसरी ओर राजनैतिक मोर्चेबन्दी कर साहित्यिक धरातल को नये आयाम प्रदान करने में सफल हुई है। फलतः समकालीन संदर्भ सौन्दर्यशास्त्र के आधार पर तीखे और पैने होने लगे और सभी क्षेत्रों में दबाव बढ़ता गया तथा नये मुहाबरे की तलाश के साथ समीक्षा के क्षेत्र में नयी स्थापना के लिये तत्परता बढ़ी, इतना ही नहीं भाषागत मिलीजुली विचार अभिव्यक्ति का उदय हुआ। जनभाषी समीक्षकों के माध्यम से जनभाषा के रूप में उर्दू मिश्रित भाषा का प्रचलन हुआ। सौन्दर्यशास्त्र की नयी स्थापना के उत्साह ने भाषा को वैचारिक स्तर प्रदान किया, साथ ही भाषणों के स्तर पर लाकर उन्होंने भाषा के दीर्घ चोले को ही बदल दिया।

सौन्दर्यशास्त्र में आज भाव संवेदना लुप्त प्रायः हो गयी है। शास्त्रीय मानदण्ड मोथरे पड़ गये हैं। आज हर रचनाकार स्वयं आलोचक होने का दावा करता है। फिर रचना का सौन्दर्य न वाह्य है और न अन्तः।[1] नयी स्थापनाओं के जोश में जनवादी लोग भी खेमों में बंट गये हैं और बहुत से समीक्षक पिछलगुये की भांति अनुशरण करते हुये अपने उद्‌गारों को अस्तित्वहीन बना रहे हैं। परिणामतः समीक्षा का एक मुहावरा तय कर दिया गया है तथा उसके भी शब्दों के प्रयोग निश्चित हो चुके हैं। जहां तक आज की समीक्षा का योगदान है इसमें संदेह की गुजांयश नहीं है कि कुल मिलाकर जनवादी समीक्षक में कृति के प्रति समझदारी बढ़ी है। अपेक्षा इस बात की है कि सौन्दर्यशास्त्र के

[1] सौन्दर्यशास्त्र, पृ0 7

आलोक में हम अतीत की ओर देखने का प्रयत्न करें और प्राचीन तथा अर्वाचीन के बीच कहीं ऐसा जोड़ बैठाने का प्रयत्न करें कि समकालिकता से अधिक सार्वकालिकता की पहचान के द्वार खुल जायें।[1]

समीक्षा की यह प्रस्तुत कृति काव्य के संदर्भ में ही सार्थक हो ऐसी बात नहीं, कहानी संस्कृत तथा अन्य विधाओं के प्रति संवेदना का रूप धारण करने वाली यह कृति निःसंदेह स्वतन्त्र और गौरवपूर्ण है। इस कृति में कसे हुये तर्क तथा विचारों का संक्षिप्त अभिव्यक्ति देने वाले गरिष्ठ निबन्ध शामिल हैं। तर्क श्रृंखला को पकड़कर काव्यात्मक तथा द्वन्द्वात्मक कृतियों को यहां निरूपित किया गया है। कथा साहित्य की भाषा की चर्चा करते हुए राजकुमार सैनी ने कहा है कि कथा जीवन का सीधा अनुवाद है। वहां शब्द और उसके पीछे का चित्र खड़ा होकर नही बोलता, वह भाषा में ढल और घुल कर सम्पूर्ण चित्र स्वर बनाता है, इसलिए कथा साहित्य भाषा पर विचार शब्दों के आधार पर होना ही नहीं चाहिए, इससे यदि शब्द सार्थक और संगत है तो किस जाति पेशा की भाषा का है, समझना चाहिए।

इसी प्रकार कविता की भाषा को भी विमल वर्मा ने समझते हुये प्रस्तुत उद्धहरण का अनुमोदन किया है –"कविता भाषा को सिकोड़ती है, कम्प्रेस करती है, सम्पूर्ण अनुभूति और आसंग को शब्दों में समेटकर प्रस्तुत करती है। यह सही है कि कविता का आग्रह शब्द पर अधिक है यानि जिन्दगी के अर्थ है"।[2]

---

[1] समकालीन चिन्तन, पृ0 10
[2] समकालीन चिन्तन, पृ0 116

स्पष्ट है कि संश्लिष्टता की अपेक्षा कविता और कहानी दोनों में की जाती है, लेकिन दोनों की संश्लिष्टता का अपना स्तर भी है। वह स्तर या पृथकता उनकी विधागत मजबूरी ही है और कुछ नहीं विधागता अपेक्षा रचना को विवरण धर्मी सांकेतिक संविदा या तर्क प्रधान बनाती है और उसी के अनुकूल उनका संगठन एक दूसरे से अलग होता जाता है। ऐसी स्थिति में समस्त विधाओं के लिये एक से किसी मूल्य का निर्धारण सम्भव नहीं होता है। यहां तक कि एक ही विधा के भेदों व भेदों के उस मूल्य का निर्धारण आसान नहीं रह जाता जैसा कि अब इसी संश्लिष्टता की अपेक्षा जितनी मुक्तता कविता से की जाती है, उतनी महाकाव्य या खण्डकाव्य से नहीं, जितनी कहानी से की जा सकती है, उतनी उपन्यास से नहीं। कथानक की उपस्थिति और विवरणों की प्रासांगिक अनिवार्यता: उन रचनाओं की जिस ढंग का विस्तार देती है, उससे इस संश्लिष्टता की रक्षा नहीं की जा सकती। अतः आज के समीक्षक जहां रचनाकार की इस सामर्थ्य की सराहना करनी होगी कि वह कथा और शिल्प के ऐसे घनिष्ट संकलन तक पहुंच सका है, वहीं इस कमजोरी पर भी अंगुली रखनी होगी कि इस संश्लिष्टता की भी सीमा है जो इस रचना को एक ओर नितान्त कलावादी बनाती है तो दूसरी ओर उसे विधाओं को बृहद आयोजन की ओर निराशा करती हैं। आज के साहित्य का स्वर पैना और तीखापन लिये है।

प्रो0 चौहान ने प्रस्तुत समीक्षा ग्रंथ में प्रथम हिन्दी समीक्षा को विरूद्धों के संघर्ष में विवेचित किया है और हिन्दी समीक्षा के जन्मकाल से लेकर आज तक के उन उद्भावनाओं को समझा है जिसमें मानव समाज का इतिहास वर्ग

संघर्ष का इतिहास रहा है। उनका मत है "हिन्दी समीक्षा के दो परस्पर विरोधी बिन्दु थे इनमें अपने भीतर भी अन्तः विरोध थे किन्तु इनमें एक स्पष्ट टकराव था। विचारधारागत यह संघर्ष हिन्दी समीक्षा में बराबर मिलता चलता है इसी टकराव के फलस्वरूप विकास हुआ आज यह बात सिद्ध हो चुकी है"।[1] हिन्दी समीक्षा के भीतर दिखाई देने वाला संघर्ष भी अप्रत्यक्ष रूप में भौतिक आधार में चल रहे संघर्ष का प्रतिफलन था और वह आज भी है। अपने जन्मकाल को हिन्दी समीक्षा के भीतर दो धाराओं के टकराव का कारण न आध्यात्मिक था और न भौतिक। जब समाज के भीतर आर्थिक, राजनैतिक, संघर्ष तेज हो जाता है, तब साहित्य में भी इस संघर्ष की तेजी दिखाई पड़ती है।

दरअसल सामन्ती मानसिकता वालों को ललित साहित्य की मूल प्रेरणा कामवृत्ति से मिलती रही है। पूंजीवादी भरणशील व्यवस्था में मध्यवर्गीय मनुष्य की जो जीवन मूल प्रेरणा देती है, समाजवादी व्यवस्था ने सामूहिकता और सामन्जस्य को मूल प्रेरणा का स्त्रोत माना है, जो सिद्धान्त व्यवहार में खरा उतरता है। सामन्तवाद में भरे पेट वालों ने काम वृत्ति को ही मूल प्रेरणा का स्त्रोत मान लिया, अब उसे हर युग के साहित्य पर चस्पा करके काम वृत्ति का आरोपण करने लगे।

काव्य का महत्व तो काव्य के अन्तर्गत है। किसी भी बाहरी वस्तु में नही। सभी बाहरी वस्तुयें काव्य निर्माण के अनुकूल या प्रतिकूल परिस्थितियों का निर्माण कर सकती हैं, वे रचयिता के व्यक्तित्व पर विभिन्न प्रकार के प्रभाव

---

[1] जनवादी समीक्षा नया चिन्तन नये प्रयोग, पृ0 12

डाल सकती हैं "काव्य और साहित्य की स्वतन्त्र सत्ता है उसकी स्वतन्त्र प्रक्रिया है और उसकी परीक्षा के स्वतन्त्र साधन हैं"[1] अपने इसी आग्रह के कारण वे आदि से लेकर अन्त तक काव्य और साहित्य को वादों से मुक्त, लेकिन समाजशास्त्रीय से प्रतिवद्धता हासिल कराने का प्रयत्न करते रहे हैं। जहां–तहां रूढ़िवादी समीक्षा का विरोध करते हुये कलात्मक अभिव्यक्ति पर भी प्रकाश डालते रहे। मानवतावाद का पुट होने के कारण डॉ० शिवकुमार मिश्र ने इसी दृष्टि से नन्ददुलारे वाजपेई को प्रगतिशील समीक्षक की संज्ञा दी।

विश्व पूंजीवाद आज ह्रासोन्मुखी है। साहित्य के क्षेत्र में भाववादी सम्मान उतना अब नहीं। समाज में सर्वहारा वर्ग और शोषित जनसमूह की विचारधारा साहित्यिक प्रतिपादन में सकुशल प्रतिबद्ध है। हिन्दी समीक्षा में सामन्ती या बुर्जुआ रूपवाद से संघर्ष करने में समाजशास्त्रीय समीक्षा का अभूतपूर्व योगदान रहा है। प्रो० चौहान द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद तथा ऐतिहासिक वौद्धिक वाद का वैज्ञानिक दर्शन आज की समीक्षा में परिपालित देखकर प्रसन्न हैं। उनका विचार है कि शोषित सर्वहारा वर्ग की काव्य परम्परा विकसित होती जा रही है और भाववादी रूपवाद की क्रमिक मृत्यु। डॉ० नामवर सिंह ने जिसे आलोचना कहा है उसके नये प्रतिमानों के रूप भी उसी प्रकार प्रस्तुत किये हैं। रूपवाद की मुख्य विशेषता है कला की अवमानना, वस्तुनिष्ठ होना और यथार्थ सापेक्ष होना। यदि ऐसा रूपवाद युग सापेक्ष है तब वह मार्क्सवादी समीक्षकों को हितकर हो सकता है। डॉ० रघुवंश के इस कथन से भी सहमति प्रकट होती है कि भारतीय

---

[1] जनवादी समीक्षा नया चिन्तन नये प्रयोग, पृ० 12

काव्य शास्त्र सदा ही वस्तुपरक चिन्तन और रूपवादी विश्लेषण पर बल देता है, इस तरह साहित्यिक समीक्षा का पारम्परिक रूप सभ्यता के नये आवरण चढ़ने के बाद ही रूपवादी बन गया।

चौहान ने मनुष्य के सौन्दर्य विषयक विचार और उसके समूचे सामाजिक जीवन को कला और साहित्य में अभिव्यंजना दी है। सौन्दर्य के विचार हर युग की कलाओं एवं साहित्य में अभिव्यक्त होते हैं। आदिम युग की कलाकृतियों से लेकर आज तक की कला कृतियों का वैज्ञानिक सौन्दर्य शास्त्रीय अध्ययन करें तो सौन्दर्य के ऐतिहासिक सामाजिक इतिहास के आधार से अन्तः सम्बन्ध को देखने में मदद मिल सकती है। इसी प्रकार से साहित्य की कृतियों में अभिव्यक्त सौन्दर्याभिव्यक्ति रूचियों का भी ऐतिहासिक सामाजिक आधार रहा है। भले ही सीधे–सीधे अभिव्यक्त न हुआ हो। सामन्ती सौन्दर्याभिरूचि ये परिचालित साहित्य उन सभी शक्तियों को गर्हित और सुन्दर चित्रित करेगा, जिनसे उनका विरोध था। चौहान ने लिखा है सौन्दर्य में इसी तरह वर्गीय सौन्दर्याभिरूचि काम करती है। यह सौन्दर्याभिरूचि विषयों के चुनाव से लेकर बिम्ब प्रत्येक व कथन भंगिमाओं तक कार्य करती है। अज्ञेय के सौन्दर्यबोध में सामन्ती अवशेष प्रकट हुये हैं।[1] सौन्दर्याभिरूचि का प्रसार प्रचार नाना रूपों में साहित्य में अभिव्यक्त हो रहा है जो कवि रचनाकार वर्ग भेद को समझकर शोषित जनसमूह के विकासशील पक्ष को लेकर अभिव्यंजित हो रहा है।

---

[1] जनवादी समीक्षा नया चिन्तन नये प्रयोग, पृ0 63

पतनशील सांस्कृतिक अभिरूचि से मुक्त होने का दावा जनवादी समीक्षकों ने किया है। भारत की जनता जाने अनजाने शोषक वर्ग की पतनशील सौन्दर्याभिरूचि का शिकार होती जा रही है और इस प्रकार विकासशील नये मानव की सौन्दर्य चेतना के विकास को अवरूद्ध किया जा रहा है।

प्रस्तुत जनवादी पत्रिकायें, आलोचनीय कहांनियां, रचना प्रसंग, वहस किताब के परिदृश्य आवरण को लेकर संयोजित किये जाते हैं। सत्तरोत्तरी दशक में इनका अपना स्थान रहा है, जिसके सम्पादक मण्डल में सव्या सांची, मुरली मनोहर प्रसाद सिंह, कांतिमोहन, चंचल चौहान, करण सिंह चौहान, सुदीश पचौरी, डॉ0 के0पी0 सिंह आदि प्रमुख हैं।

प्राचीन भारत से लेकर अर्वाचीन भारत ने ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य को इन पत्रिकाओं में निबन्धित किया हैं। इस प्रकार पूर्व मत कालीन उत्तर भारत में एक प्रगति का वातावरण देखने की इनकी कोशिश है तथा मान्यता है कि किसान वर्ग के अनेक स्तरों का सीधा सम्बन्ध इस युग में था किन्तु प्रगति का वह वातावरण कृषि तक ही सीमित था। 18वीं एवं 19वीं शताब्दी में और उसके पश्चात् शहरीकरण की एक लहर उत्तर भारत में फैली। यहां का नया शासक वर्ग बुनियादी तौर पर नगर निवासी था। कृषि उत्पादन बढ़ने के कारण शोषक वर्ग किसानों पर हावी होने लगा।[1] समाज में जबकि निजी भ्रम का महत्व बढ़ जाता है तो उत्पादन बढ़ाने की प्रवृत्ति को भी बल मिलता है। लेकिन भारत

[1] उत्तर गाथा, पृ0 15

में यदि एक ओर बल मिला है तो दूसरी ओर महगांई के कारण टैक्स भी मिले हैं। लगभग यही चिन्तन सामयिक विचारों की प्रतिस्थापना करता है।

भक्ति साहित्य विशेषकर कबीर, नानक, दादू, रैदास आदि की रचनायें आज के जनवादी आन्दोलन की चेतना के विकास एवं प्रसार के लिये हमारी अमूल्य विरासत है। साहित्य के मूल्यांकन को इनकी रेखाओं से रेखांकित किया जा सकता है। ऐसे समाज में जिसके क्रान्तिकारी परिवर्तन की सम्भावना न हो, क्रान्तिकारी साहित्य की आशा करना शायद भ्रमात्मक ही हो सकती है। अपनी अनेक सीमाओं के बावजूद सामाजिक प्रतिरोध की परम्परा का गौरवमय उत्तराधिकार जनवादी आन्दोलन को ही है। जिसका आधार ऐसे वैकल्पिक समाज की कल्पना है, जिसमें जातिगत धार्मिक और आर्थिक भेद से उत्पन्न पीड़ा का आभाव ही और जिसके पास कल्पना को वास्तविकता में परिणित करने के माध्यम का ज्ञान हो।

साहित्यकार सामाजिक, सांस्कृतिक प्रक्रिया के एक महत्वपूर्ण अंग हैं। इसीलिये जनवादी साहित्य आन्दोलन में यह कहा गया है कि वह उन प्रगतिशील समीक्षकों से भी संघर्ष कर सके जिनसे सांस्कृतिक और वैचारिक क्रान्ति का रूपवाद न हो।[1] प्रगतिवादी साहित्य के बारे में यह सच है कि अन्तः विरोध होने के कारण भी उनमें क्रान्तिदर्शिता है। रचना धर्मिता की पहचान कर उन्होंने ऐतिहासिक द्वन्द्ववाद की पहल की है और सूत्रवादी समीक्षक होकर नये

---

[1] उत्तरार्द्ध, पृ0 67

जनवादी लेखकों के सामने अपने प्रयोगों के लिये हिचकिचाये नहीं है। हमारे नये जनवादी आन्दोलन को व्यापक और प्रभावशाली बनने देने में प्रस्तुत पत्रिकाओं ने बहुत कार्य किया है तथा ऐतिहासिक द्वन्द्ववाद को मार्क्सवादी विचारधारा के साथ समझने का यह उपक्रम उनका प्रयोग परक है।

हिन्दी की प्रगतिवादी आलोचना सर्वाधिक महत्व समाजवादी यथार्थ को देती रही है। यथार्थवाद के अनेक रूपों का प्रचलन साहित्य में प्रतिबद्धता के साथ प्रस्तुत हुआ है। समाजवादी यथार्थवाद में मुख्यतः समाजशास्त्रीय दृष्टिकोंण यथार्थवाद के माध्यम से प्रस्तुत किया जाता है। साहित्य में समाजशास्त्रीय दृष्टिकोंण जहां एक ओर ह्रस्यशील तत्वों को नष्ट करने का प्रयास कर रहे हैं वहां दूसरी ओर समाज को विकास पथ पर अग्रसर करने वाले प्रगतिशील तत्वों को गतिशील बनाने के लिये कृत संकल्प हैं।[1] पचौरी ने आज की समाजवादी व्यवस्था में पूंजीवाद के विरोध स्वरूप अपना मन्तव्य दिया है और प्रगतिवादी साहित्य में इस समाजशास्त्रीय दृष्टि की अभिव्यक्ति यथार्थवाद से जोड़ दी है। पात्रगत एवं इतिहास प्रतिवद्धता को स्वीकार करते हुये उनका मन्तव्य रहा है कि साहित्य में विशिष्ट पात्रों द्वारा विशिष्ट परिस्थितियों का चित्रण सम्भाव्य है।[2] इन मानवीय तथा सामाजिक तत्वों में स्थित सभी सम्भावनाओं प्रचलन रूप उद्धारित हो जाती हैं। इन मानवीय तथा सामाजिक तत्वों का अतिवादी रूप भी इसी क्रम में दिखाया जाता है और प्रतिवद्धता के साथ वह सामाजिक इतिहास की इकाई

---

[1] On Literature, Page 30
[2] उत्तरार्द्ध, पृ0 30

होता है। इन अवधारणाओं का प्रतिवद्धता से अनिवार्य सम्बन्ध है। साहित्य मार्क्सवादी प्रतिबद्धता वहीं स्वीकार करता है, जहां उसमें समाजशास्त्रीय विवेचन की आकांक्षा निहित हो। वस्तुतः समाजवादी समीक्षा मार्क्स के द्वन्द्व पर आधारित है। जीवन और साहित्य का यह सम्बन्ध ऐतिहासिक द्वन्द्ववाद पर निर्भर होकर समाजशास्त्रीय चिन्तन को मूल्य प्रदान करता है। विश्व की जनता को शोषण से मुक्त कराने का यह प्रयास स्तुल्य है।

(ख) समीक्षा दर्शन :

संवेदात्मक अन्तः रचना प्रक्रिया के दौरान वाह्य जगत से खुल्लमखुल्ला सम्बन्ध स्थापित कर लेता है। स्व से ऊपर उठकर खुद की घेराबन्दी तोड़कर सामान्य जन के लिये वह छटपटाहट पैदा कर लेता है। ऐसे सौन्दर्य क्षणों में वह साहित्य क्षोभ से प्रतिबद्धता स्वाभाविक है या इस प्रकार कहें कि ऐसे क्षणों पर साहित्य में केवल कला का ही नहीं होता बल्कि सामान्यजनों का आधित्य रहता है। समीक्षा पद्धति में समाजशास्त्रीय प्रतिबद्धता आज जोरों पर है। आज जो रचना प्रक्रिया को देखे बिना केवल कलात्मक मानदण्डों के आधार पर समीक्षा कर दी जाती है। वह आलोचक के अहंकार से निस्पन्न होती है। भले ही अहंकार साहित्यिक शब्दावली में प्रकट हो या प्रगतिवादी शब्दावली में। यही कारण है कि साहित्यिक दृष्टि प्रतिवद्धता की मांग करती है। जीवन अनुभवों और ज्ञानात्मक संवेदन के द्वारा साहित्य का अन्तर्भूत रूप प्रकट होने लगता है। हिन्दी की समाजशास्त्रीय समीक्षा ने, समीक्षा के प्रतिमान लेकर प्रतिबद्धता के प्रश्न को आगे बढ़ा दिया है। प्रो० चौहान लिख़ते हैं वस्तुतः काव्य वस्तुनिष्ठ है, इस वस्तुनिष्ठता की पहचान प्रतिवद्धता के नये आयामों से ही सम्भव है।[1] उन्होंने भाषा शिल्पगत नवीनता को तो स्वीकार कर लिया है किन्तु उससे सम्बद्ध मूल्यों से समझौता उनके लिये सम्भव नहीं हो सका। इस मूल्यांकन पद्धति में प्रतिवद्धता का प्रश्न चिन्ह लग जाता है और प्रगतिवादी विचारणा समाजशास्त्रीय

---

[1] समकालीन चिन्तन, पृ० 133

सृजनात्मक ऐतिहासिक द्वन्द्व में समझी जाने पर पूंछी जाती है। ऐसे अनेक स्वरूप सामने आते हैं, जिसमें समीक्षा के प्रतिमान किसी न किसी आधार को लेकर उलझ गये हैं।

विकास में मुख्य भूमिका ऐंटीथीसिस के संघर्ष की होती है। एक बीज पृथ्वी गर्भ में ऐंटीथीसिस की शक्तियों से संघर्ष करता है। वे शक्तियां बीज का निषेध कर देती हैं और अंकुर आदि का विकास होता है, उसमें पत्तियां भी गिरतीं हैं और नयी पत्तियां भी आती हैं, इस प्रकार निषेध का निषेध होता चलता है। यह सम्बन्ध परिवर्तन अन्तः सम्बन्धों तथा अन्तः क्रियाओं का भी साक्षी होता है। पौधा, पृथ्वी, जल, वायु आदि से अन्तः सम्बन्धित है और ऑक्सीजन आदि उत्पन्न करके अन्य पदार्थों तथा जीव जगत के साथ अन्तः क्रिया भी करता है। तदनुसार ही हिन्दी समीक्षा विरूद्धों का संघर्ष रहा है। जिसमें मानव समाज तथा विचार जगत की द्वन्द्वात्मक भौतिक जगत की गतिविधियां संलग्न बनी रहीं है। वाद–प्रतिवाद के झमेले में यही समीक्षा आज समाजशास्त्रीय सम्बल को लेकर उस धरातल पर टिकी है जिस धरातल की गंध से सारा समाज गंधमान है। प्रो0 चौहान ने ऐंटीथीसिस के इस सपाट किन्तु सूक्ष्म मार्ग को विवेचित करते हुये लिखा है ''ऐंटीथीसिस का संघर्ष सिर्फ भौतिक जगत में ही नहीं विचार जगत में भी चलता है, यदि ऐसा न होता तो विचार और ज्ञान के क्षेत्र में विकास ही नहीं होता। हिन्दी समीक्षा के विकास और परिवर्तन में भी ऐंटीथीसिस का सम्बन्ध रहा है और संघर्ष रहा है। इस संघर्ष को हिन्दी की समजाशास्त्रीय समीक्षा में ही रेखांकित किया जा सकता है। अपने जन्म काल में ही हिन्दी समीक्षा में दो

विरोधी धारायें संघर्ष कर रहीं थी। समीक्षक का मन्तव्य है कि आदर्श और यथार्थ के प्रति समीक्षक जगत में सदैव द्वन्द्व विद्यमान रहें हैं जिनका संकीर्ण और विस्तीर्ण दृष्टिकोण जनवादी परम्परा को धक्के लगाता रहा है।

भारतेन्दु और मण्डल के लेखकों ने अपनी रचनाओं के माध्यम से हमारे साहित्य की धारा को राष्ट्रीयता और जनवाद की ओर मोड़ा। प्रेमचन्द ने उस परम्परा का अभूतपूर्व विकास किया और हमारे राष्ट्रीय मुक्त संग्राम और देश की मेहनतकश जनता की शोषण समुक्ति के अभिन्न सम्बन्ध की पहचान की। भारतीय जनता की राजनैतिक, आर्थिक, सामाजिक युक्ति के साथ–साथ साम्राज्यवाद और वाद की पतनशील, पिछड़ी और अन्धविश्वासपूर्ण विचार धाराओं के विरूद्ध एक प्रगतिशील और वैज्ञानिक विचारधारा के लिये संघर्ष में उसकी महान उपलब्धियों को अस्वीकार नहीं किया जा सकता है। जनवादी ताकतों को एक होने की दिशा में आलोचक ने ऐंटीथीसिस के प्रश्न वर्ग संघर्ष के रूप में बार–बार उठाये हैं। नम्बूदरीर्याद जैसे विचारक का मत है–"वर्ग संघर्षो के इतिहास के रूप में समाज के इतिहास की मार्क्स की समझ इन अध्ययनों के नतीजे में भी अधुनातम और सम्बृद्ध हुई।[1] मार्क्सवादियों के बीच यह एक जीवन्त बहस का विषय बना हुआ है। भारत में सामाजिक विकास वर्ग संघर्ष पर आधारित नहीं रहा है, जैसा कि मार्क्स और एंजिल्स ने स्वयं माना है। हमारा समाज जातियों का समाज रहा है। इतना अवश्य है कि आज तक के समाजों के

---

[1] उत्तर गाथा, पृ0 05

इतिहास परोक्ष रूप से जातियों के होने के बावजूद मूलतः वर्ग संघर्ष से जुड़ गया है। स्वतन्त्र मनुष्य उत्पीड़क और उत्पीड़ित होने से बचना चाहता है, जाहिर है कि स्वतन्त्र भारत वर्ग संघर्ष की घोषणा पत्र को आत्मसात करने के पूर्व ही स्वतन्त्रता की उद्भावना से समझौता करना चाहता है।

साहित्य के रूप और उसकी विषयवस्तु का गहरा सम्बन्ध द्वन्द्वात्मकता से है। वे एक दूसरे से एकान्त भिन्न न होकर परस्पर सम्बद्ध एक दूसरे को प्रभावित करते रहते हैं। वस्तु विचार के इतिहास को वर्ग संघर्ष में देखा जा सकता है। सन् 1957 का यह प्रथम चरण आजादी की लड़ाई के लिये वस्तुविचार और द्वन्द्वात्मकता के साथ दीप्त हो उठा था। ठीक 90 वर्ष बाद रूप और विषयवस्तु के परस्पर सम्बन्ध को पहचाना गया और ब्रिटिशवादी पूंजीवादी व्यवस्था को धिक्कारा गया। स्वतन्त्र भारत में शासक वर्ग साम्राज्य विरोधी आंदोलन का अगुआ न बन सका, जबकि मजदूर वर्ग पूंजीपति वर्ग से टक्कर लेता हुआ रंगमंच पर आया। इस दमन चक्र में वस्तु विचार दों रूपों में उभरकर सामने आया। पहला पूंजीवादी रूप और दूसरा मजदूर वर्ग का निजी रूप। इन वर्गो में अन्तः विरोध बढ़ता ही चला गया है। फलतः समसामयिक साहित्य स्वरूप के रूपवाद ने कविता और साहित्य की भाषा को अर्थशास्त्र के पीछे सिद्ध कर दिया है। साहित्य का शिल्प उसका भिन्न रूप सामाजिक विकास से ही सम्भव हुये हैं। यह बात आकस्मिक नहीं है कि हर प्राचीन साहित्य में महाकाव्य साहित्य का मुख्य रूप हो आधुनिक उद्योग धन्धों की उन्नति के साथ उपन्यास साहित्य का मुख्य रूप बनाया गया है। मुरली मनोहर सिंह का विचार इस दृष्टि

से ध्यान देने योग्य है कि जनता तक साहित्य पहुंचाने के साधनों में जो परिवर्तन हुये उसका प्रभाव उनके रूपों पर भी चढ़ा।[1] रूप और विषयवस्तु के विचार का द्वन्द्वात्मक इतिहास एक दूसरे की अवहेलना नहीं कर सकता। इसका कारण है कि साहित्य में सजीव चित्र चाहिए, केवल रेखायें और रंग रूप नहीं। साहित्य आर्थिक परिस्थितियों से नियमित होता है, लेकिन उनका सीधा प्रतिबिम्ब नहीं है। उसकी अपनी सापेक्ष स्वाधीनता द्वन्द्वपरक हैं युग बदलने पर जहां विचारों में अधिक परिवर्तन होता है, वहां ऐन्द्रिय बोध और भाव जगत में अपेक्षाकृत स्थायित्व रहा है। यही वस्तु विचार है और कारण स्पष्ट है कि युग बदलने पर भी उसका साहित्य हमें अच्छा लगता है। विचारों को लेकर उसके बाद भावों को समाज सापेक्ष बनाया जाता है। दो विभिन्न युगों में अपने अभ्युदय और ह्रास की विभिन्न परिस्थितियों में एक ही वर्ग की दो तरह से साहित्य का पोषण करता है। विश्व में यह पूंजीवाद का ह्रासकाल है और श्रमिक जनता के अभ्युदयकाल पर विचार करते हुये सैनी कहते हैं कि लेखक सामाजिक विचार की समस्या के प्रति आज सजग है। आज के युग की परिधि में वे अब तक के वस्तु विचारों की रक्षा करते हैं। इसी मार्ग पर इन मूल्यों को और भी समृद्ध करके अगले युगों को विरासत के रूप में छोड़ जायेगें।[2]

वस्तु विचार और रूपवाद से परस्पर संघर्षी धारायें प्रारम्भ से ही रहीं हैं। समाजवादी व्यवस्था ने वस्तुवाद अवधारणाओं को धरातल के निकट

---

[1] पहल अंक–4

[2] आलोचना, अक्टूबर, 1982

देखा और प्राचीन रूपवादी भावना काल्पनिक होकर गगनाचारी बन बैठी। समाज को वर्ग विभक्त करने में रूपवादी समीक्षा का ही योग है। इसमें टकराव है वैषम्य है। वैज्ञानिक सत्य यह है कि समाज में समस्त को मंगल देने वाली विचारधारा समाजशास्त्रीय ही है। द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी चिन्तन के अभाव में वस्तुवादी भी रूपवाद का शिकार हो जाता है। द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद व ऐतिहासिक भौतिकवाद के द्वारा सिद्धान्त व व्यवहार में यथार्थवाद जी रहा है।

आज भी इस तथ्य को स्वीकार किया जा सकता है कि आम जनवादी अधिकारों और कला की आजादी के लिये सबसे बड़ा खतरा पूंजीपतियों के नेतृत्व से होता है। प्रगतिशील लेखक जनवादियों वामपंथी लेखकों से व्यापक हिस्से में बंट गये हैं। आज स्थिति यह है कि हमारे पास ऐसा कोई संगठन नहीं है जो सारे देशभक्त और जनवादी लेखकों को एकजुट कर उन्हें अपने साहित्य की गौरवपूर्ण राष्ट्रीय और जनवादी परम्परा आज की नयी परिस्थितियों को आगे बढ़ाने के लिये प्रेरित और आन्दोलित कर सकें। देश की वर्तमान स्थिति वामवादी कार्यवाही की मांग करती है। विश्व के पैमाने पर जब जनशक्ति संकट में फंसी हुई है, तब इस व्यवस्था को स्वस्थ रूप में रखने का कार्यक्रम जनवादी ही होगा। हमारे राजनैतिक और आर्थिक जीवन पर ही नहीं बल्कि सांस्कृतिक जीवन पर बड़े पूंजीपति घरानों को अपना शिकंजा कसने में मदद पहुचाई है। सव्य सांची का कथन है कि साम्राज्यवादी लूट खसोट और षडयंत्र हमारी महान प्रगतिशील एवं जनवादीय राष्ट्रीय संस्कृति या उसके निरन्तर बढ़ते हुये हमलों में

आज स्थिति को और भी विषम तथा चिन्तनीय बना दिया गया है।[1] समूची मानवता और उसकी उपलब्धियां आज युद्ध की आग में झोंकी जा सकती हैं। यह बात किसी से न छिपी कि जनवादी साहित्य संरचना ही इस संघर्ष संकट का निवारण कर सकता है। शासनतंत्र की नपुंसकता और नौकरशाही का गहरा प्रभाव साठोत्तरी दौर में इतना दुर्निबार हो गया है कि राष्ट्रीय एकता को मजबूत करने के लिये जनवादी संघर्ष को ही आगे बढ़ना होगा।

कला और साहित्य की शक्ति का बोध व्यवस्था को भी है। इसलिये जनवादी मूल्यों में आस्था रखने वाले और उनके लिये संघर्ष करने वाले लेखकों तथा संस्कृति कर्मियों के विरूद्ध दमन की योजना शासक वर्ग बड़े पैमाने पर लेखकों को खरीदने का प्रयत्न कर रहा है। जनवादी साहित्य में यथार्थवादी परम्परा को सुरक्षित रखने और विकसित करने के मधुर प्रयास चलते रहे हैं। लेकिन प्रयोग पक्ष इसका काफी कमजोर रहा है। जनवादी आलोचक का कथन है कि लघु पत्रिकाओं को प्रखर चेतना से संघर्ष मूलक रचनात्मक वातावरण तैयार हुआ। इस वातावरण को विघटित करने के लिये पूंजीवादी व्यवस्था ने जोर भी लगाया। लेकिन जनवादी लेखक संघ ऐसे लेखकों का संगठन है जो साहित्य की वस्तु रूप और शैलियों के बारे में अपने दृष्टिकोण और रूचियों की विविधता के बावजूद जनवाद को हमारी सामाजिक सांस्कृतिक नियत का एक अभिन्न अंग मानते हैं।

---

[1] जनवादी लेखक संघ घोषणा पत्र तथा संविधान, पृ0 3

जनवादी उद्भावना वामपंथी साहित्य के निमार्ण में एकजुट होकर संरचनात्मक कार्य करने के लिये प्रतिबद्ध है। मार्क्सवाद के द्वन्द्वात्मक सिद्धान्तों में उन्होंने सोचा और समझा है। इसी सोच में उनका आलोच्य स्वरूप जनवादी शक्तियों को एकाकार करने में जुटा हुआ है। मध्यवर्गीय बुद्धिजीवियों ने जनसाधारण को काल्पनिक लोक से हटाकर वास्तविक धरातल पर लाकर खड़ा कर दिया है। वह मान स्वरूप है और हमारी जनता के बीच अन्तः विरोध बढ़ता जा रहा है। कवियों ने इसी प्रतिवादी स्वरूप को अपने काव्य में सृजित किया है तथा यह प्रयास किया है कि हमारी चेतना बाहरी जगत का बिम्ब बना रहे।

स्पष्ट है कि साहित्य में व्यक्त सौन्दर्य का भी एक सामाजिक पक्ष है। वर्ग समाज में सौन्दर्यभिरूचि वर्गीय होती है। साहित्य में इसे बड़ी आसानी से देखा जा सकता है। सौन्दर्य चेतना के विकास में मानव समाज को अनदेखा नहीं किया जा सकता। व्यक्ति की सौन्दर्य चेतना किसी न किसी वर्ग की सौन्दर्य चेतना होती है। सौन्दर्याभिरूचि पर लिखे लेख में रूसी सौन्दर्यशास्त्री वी0 स्केत रश्चिकोव ने कहा है कि ऐसा न कोई व्यक्तिगत सौन्दर्यात्मक मूल्यांकन होता है और न हो सकता है। जो वस्तुतः किसी न किसी सामाजिक समूह के विचार को प्रतिबिम्बित न करता हो।[1] मनुष्य सुन्दरतम् का पक्षधर है। हिन्दी के आदिकाल से ही सौन्दर्य चेतना की भाववादी रूपों में देखा गया है। कबीर की सौन्दर्याभिरूचि जन सामान्य के अधिक निकट है। उनकी सौन्दर्य

---

[1] भारत और रूस साहित्यिक संगठन, पृ0 45

चेतना में प्रगतिशील वर्गो की सौन्दर्य चेतना का मिश्रण है। अतः सौन्दर्य चेतना की रचना प्रक्रिया में सामाजिक, ऐतिहासिक वर्गो की भूमिका काफी महत्वपूर्ण रहती है।[1]

मनुष्य के सौन्दर्य विषयक विचार उसके समूचे सामाजिक जीवन उसकी जीवन प्रकृति ऐतिहासिक परिस्थितियों समाज की वर्ग संरचना व राष्ट्रीय परम्पराओं से निर्मित होती हैं। सौन्दर्य के विचार हर युग की कलाओं व साहित्य में अभिव्यक्त होते हैं। आदिम युग की कलाकृतियों से लेकर आज तक कलाकृतियों का वैज्ञानिक सौन्दर्यशास्त्रीय अध्ययन करें तो सौन्दर्य के ऐतिहासिक, सामाजिक आधार में अन्तः सम्बन्ध को देखने में मदद मिल सकती है। इसी प्रकार से साहित्य की कृतियों में अभिव्यक्त सौन्दर्याभिरूचियों का भी ऐतिहासिक, सामाजिक आधार रहा है। वर्गीय सौन्दर्याभिरूचि साहित्य में वस्तु और भाव दोनों रूपों में प्रकट होती है, जो कवि रचनाकार वर्गभेद को समझकर शोषित जन समूह के विकसनशील जनसमूह के साथ तादाद में स्थापन कर लेते हैं। वे धीरे–धीरे प्रयत्नशील सांस्कृतिक सौन्दर्याभिरूचि से भी मुक्त होने का प्रयत्न करते हैं।

सारांश यह है कि समाजशास्त्रीय हिन्दी समीक्षा में लोकहितवादी दृष्टिकोण विकसित रहा है। प्रतीत यह होता है कि इस युग की समीक्षा एक ओर राष्ट्रीय समस्याओं के समाधान परक आन्दोलन से परे दूसरी ओर विकसित होती हुई समाजवादी आर्थिक चेतना से प्रभावित हो रही है। इस पद्धति ने

---

[1] समीक्षा दर्शन, पृ0 76

सामाजिक प्रश्नों को दोहराया है तथा मार्क्सवादी शब्दावली में साहित्यिक रचना को महत्व दिया है। युगीन समस्याओं तथा परिवेश की ओर व्यापक दृष्टि हो जाने से इन समीक्षकों का मुख्य स्वर समाज सापेक्ष हो गया है। यथार्थवादी साहित्य को इन्होंने आत्मसात् किया है। समाजवादी दूरी को पकड़कर साहित्य का इन्होंने परिमापन किया है। वस्तुगत सौन्दर्यबोध को इन्होंने अपनी समीक्षा का आयाम बनाया है। जनसाधारण के पक्ष को उभारकर एक स्वरूप वैज्ञानिक प्रक्रिया को चरितार्थ किया है। तत्कालीन सामाजिक व्यवस्था के साथ आर्थिक आधारों की वैषम्यपूर्ण स्थिति पर इन्होंने कड़ा प्रहार किया है। शोषक और शोषित के बीच वाले रिस्ते को पार कर सर्वहारा वर्ग की इन्होंने वकालत की है।

* * *

अष्टम अध्याय

हिन्दी की समाजशास्त्रीय समीक्षा

उपसंहार :

भारतीय समीक्षा का व्यापक स्वरूप संस्कृत एवं हिन्दी के अतिरिक्त बंगला, मराठी, गुजराती, मलयालम, कन्नड़, तमिल, उड़िया, सिंधी पंजाबी, उर्दू आदि भाषाओं में आधुनिक युग–चेतना के परिप्रेक्ष्य में देखा जा सकता है। वस्तुतः साम्प्रतिक साहित्य संस्कृत साहित्य का आधार लेकर ही अक्षुण्ण बना हुआ है। मानव मूल्य चेतना जीवन के साथ विकसित होकर समग्र विश्व में चेतना और संवेदना का संकट पैदा करती है। फलतः पाश्चात्य साहित्य संस्कृति का अनुकरण या अनुकरण का प्रतिरोध ऐसे द्विविध मार्ग पर लाकर खड़ा कर देता है जिससे विचार और विवेक की स्वतन्त्रता कुंठित हो जाती है। 'समीक्षा विधा' साहित्य के मूल्य का मूलवत्ता से सीधा सम्बन्ध रखती है।

समीक्षा ने साहित्य संस्कृति और कला की उपलब्धियों से जनता के अलगाव की युगीन पहचान को अस्तित्ववादी बनाया है और उनसे उसके सीधे रिश्ते को जोड़कर आध्यात्मिक रूपाहरण की धारणा को सांस्कृतिक प्रगति की समाजवादी धारणा बना दिया है।

मान–इतिहास में समीक्षा विधा ने हर युग के साथ मूल्यों का चोला बदला है। सामाजिक संघर्ष सांस्कृतिक विघटन तथा विपन्नता के नारों को भी समीक्षा विधा ने आत्मसात् किया है। राजनीतिक विचारधारा के ध्रुवीकरण के साथ

सामाजिक वर्गों का ध्रुवीकरण आज साफ और तीक्ष्ण होता जा रहा है। फलतः रचनात्मकता में लेखकों की वर्ग चेतना, पक्षता और प्रतिबद्धता की पहचान और भी अनिवार्य हो गयी है। इस प्रसंग में रचनात्मक मूल्य और रचनाकार की दृष्टि, विचारधारा की जटिल प्रक्रिया की समझ, समकालीन समीक्षा के लिए भी चुनौती है।

प्रायः साहित्य समीक्षा में भी वर्गगत द्वन्द नये मुखौटे लगाकर साहित्य सभा में उपस्थित बने रहते हैं। उन्हें निहित स्वार्थों को नीति, सिद्धांत और आदर्श मूल्यों का जामा पहनाना पड़ता है।

साहित्य के सामाजिक प्रसंगों की पहचान समग्र विश्व की प्रतिक्रियावादी देन है। जब भी सामाजिक संघर्ष विचारधाराओं के द्वन्द को उड़ेलता है, तभी क्रान्तिकारी और प्रगतिशील बुद्धिजीवी रचनाकार वर्ग चरित्र का मुखौटा खोलता है। रचना के प्रसंग में सौन्दर्य सम्वेदना और बोध की अभिव्यक्ति स्वातन्त्र्य का ही प्रतिफलन है।

हमारा समकालीन साहित्य व्यक्तित्व के विस्फोटात्मक स्वरूप को ग्रहीत करता हुआ रचनात्मक संकल्प और सौन्दर्य बोधीय सक्रियता में जुटा हुआ है।

नयी समीक्षा का अपना योगदान है। साहित्य सृजन और साहित्य समीक्षा में बार–बार ऐसे बिन्दु आते हैं जब साहित्य की स्वायत्तता की रक्षा के

लिए रचनाकार और समीक्षकों को प्रयत्न करना पड़ता है। बीसवीं शताब्दी की ज्ञान–विज्ञान की श्रीसम्पन्नता के कारण साहित्य सर्जना तथा समीक्षा दोनों ही क्षेत्रों में विविध वादों की बाढ़ आयी है। अनुभूति और अभिव्यक्ति का द्वन्द शब्द–अर्थ समझनें के नये सूत्र, साहित्य–समीक्षा की अपेक्षाओं की आंशिक पूर्ति ही है। साहित्य विशिष्ट ज्ञान का स्त्रोत है। इसे केवल संरचनात्क समीक्षा द्वारा प्राप्त करना कठिन है अतएव संरचना का समुचित मूल्यांकन साहित्यिक के बीच समझदारी पैदा करता है। संरचना के मूल्यांकन के समय समीक्षक की दृष्टि उसके अवयवों की ओर भी जाती है और उनके माध्यम से रचनाकार के अनुभव के विविध स्वरूपों से टकराती है। रचना स्वयं स्वायत्त है और उसका शब्द–विधान तथा अर्थ–विज्ञान निजी संरचना का प्रतिरूप है।

हिन्दी समीक्षा ने अद्यावधि जो प्रगति की है वह संतुलित बहुविध इकाइयों में गतिमान है। भारतीय स्वातन्त्रयोत्तर इतिहास की असंगतियाँ साहित्य के द्वन्द्व बनकर खड़ी हुई हैं। जीवन की समस्याओं, कुण्ठायें, विषमतायें, जटिलतायें संरचना का निर्माण करती हैं। समीक्षा ने इस दुरूहता का आरोप–खण्डन ऋग्वेद से लेकर मुक्तिबोध तक प्रस्तुत किया है। उसमें देश की भयावह मुद्रा स्फीति और तज्जन्य कष्ट, कुण्ठायें, नेताओं के पाखंड, पूंजीपतियों के पोषण अनायास मुखरित हो उठे है। चाहे समीक्षा का धरातल मनोवैज्ञानिक रहा हो अथवा समाजवादी, कहीं न कहीं व्यक्तिवाद को अभिनव दिशा प्रदान की गयी है।

स्वातन्त्रयोत्तर यंत्रीकरण की शताब्दी ने नये विराम चिन्ह प्रदान किये हैं। जिनको हम क्रमशः नाट्य, कथा, उपन्यास एव नवलेखन परम्परा में दृष्टिगत कर सकते हैं। नाट्य समीक्षा के संदर्भ में रंगमचीय दृष्टि बराबर रही है। नाट्य सिद्धांत के पाश्चात्य प्रभावों से उत्पन्न नव्य चेतना को जहाँ हिन्दी नाट्य समीक्षा ने आत्मसात करने का आग्रह किया है वहीं दूसरी ओर भारतीय परम्परा के अन्वेशषण की सजग दृष्टि भी सन्निहित है। नाट्य सिद्धांत के संदर्भ में श्री नेमचिन्द जैन कृत 'रंगदर्शन' डॉ0 रघुवंश कृत नाट्यकला विशेष उल्लेखनीय है।

हिन्दी कथा समीक्षा बीसवीं शती की ही देन है। कहानी की समीक्षा को नयी टैक्नीक द्वारा नये स्तर पर उठाया गया है। डॉ0 नामवर सिंह ने निस्सन्देह कथा–साहित्य में बिम्ब प्रतीकात्मक प्रयोगों का विवेचन करने में पहल की है। डॉ0 रामस्वरूप चतुर्वेदी ने कथ्य की सूक्ष्मता शिल्प की सक्ष्मता, शिल्प की गुरूता का बारीकी से परिवेक्षण किया है। श्री गंगा प्रसाद विमल ने नई कहानी को अकहानी, सचेतन कहानी तथा समानान्तर कहानी की संज्ञा भी प्रदान कर दी है। नयी कहानी के विरूद्ध समानान्तर कहानी ने यथार्थ के नये स्तरों का उद्घाटन किया, जिसकी अभिव्यक्ति विभिन्न पत्रिकाओं में निहित विभिन्न समीक्षात्मक लेखों द्वारा सम्पन्न हुई हैं। विजय मोहन सिंह, महेन्द्र भल्ला, सुरेन्द्र चौधरी आदि के समीक्षात्मक लेख इस प्रसंग में पठनीय हैं।

हिन्दी उपन्यास समीक्षा का सर्वथा तत्व धर्मो प्रचार तो रहा ही है, उपन्यास समीक्षा में संरचना और उसमें यथार्थ के विभिन्न स्तरों के कल्पनात्मक सृजन का विश्लेषण करने पर विशेष ध्यान दिया गया है। औपन्यासिक समीक्षक डॉ0 इन्द्रनाथ मदान, डॉ0 देवराज उपाध्याय, नलिन विलोचन शर्मा ने निश्चित भाव भूमि पर अवतरित करने की चेष्टा है।

नवलेखन के संदर्भ में हिन्दी समीक्षा का महत्वपूर्ण एवं प्रासंगिक स्वरूप है। नवलेखन प्रयोगवादी काव्य की विकसनशील चेतना से ही मान लिया जाता है। रचना में बदलाव की स्थिति इतिहास, समाज के दबाव के फलस्वरूप हुआ करती है। राष्ट्रीय स्वतन्त्रता आन्दोलन के उतार–चढ़ाव महायुद्ध का परिवेश, अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति, बेरोजगारी, मॅंहगाई आदि ने काव्य के क्षेत्र में रचना की बदली हुई दिशा को नये हस्ताक्षर प्रदान किये हैं। साम्यवाद के दो मुख्य शिविरों में मार्क्स लेनिन की व्याख्या को लेकर जो टकराहट हुई उससे प्रगतिवादी आन्दोलन सहसा लड़खड़ा गया। डॉ0 रमेश कुन्तल 'मेघ' ने रचना की सामयिक स्थिति के विषय में कई महत्वपूर्ण प्रश्न उठाये हैं और उधर मुक्तिबोध प्रगतिवादी समीक्षा को राजनैतिक मुहावरों के आश्रय से बाहर निकालना चाहते हैं। कला की स्वतन्त्रता को जीवन सापेक्ष मानकर उन्होंने नवलेखन के अधिकार और दायित्व दोनों की विवेचना की है।

भारतीय साहित्य समीक्षा की परिधि नयी–नयी विधाओं के निर्माण की लालसा में उलझ गयी हैं और उधर विदेशी सभ्यता–संस्कृति से भी उसका

छुटकारा सम्भव नहीं, जिसका परिणाम है—आधुनिकता की विशद व्याख्या। आधुनिकता के परिप्रेक्ष्य में आज हमारी हिन्दी समीक्षा—विधा प्रगतिमूलक मार्ग की ओर अग्रसर है जिससे साहित्य का पथ—प्रदर्शन होकर मानव जीवन मूल्य को प्राणवत्ता प्राप्त होगी तथा लोक सामान्य भाव—भूमि की परख रहेगी। अस्तु हिन्दी समीक्षा की भावी संभावनाओं एवं उपलब्धियाँ सर्वथा प्रेरणावाद एवं स्वस्थ है।

आधुनिक जीवन और उससे जुड़ी अर्थगत विषमताओं की जटिलता के दर्शन को समाजशास्त्रीय विचारधारा ने जिस ढ़ंग से उजागर किया उसका आधुनिक साहित्य पर अधिक प्रभाव पड़ा है मार्क्स ने प्रगतिशीलता के संदर्भ में भौतिकवादी दृष्टिकोण से यथार्थपरक जीवन मूल्यों को सामने रखा और आनन्दवाद तथा आदर्शवाद के विरूद्ध वर्ग—संघर्ष और द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद की वैज्ञानिक पद्धति से साहित्य की नयी व्याख्या दी उसने वैयक्तिक आदर्शवादी और कलात्मक मूल्यों की जगह यथार्थपरकता और वास्तविकता की वकालत की इस प्रकार उसमें वैज्ञानिक और वस्तुपरक चिन्तन की नीवं डाली। वस्तुतः समाजशास्त्रीय समीक्षा में मार्क्सवादी विचारधारा का गहन प्रभाव है। मार्क्सवादी समीक्षा पद्धति ने ऐतिहासिक और समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण को जन्म दिया। असल में मार्क्सवादी आलोचना का आधार ही 'ऐतिहासिक भौतिकवाद' है। यह साहित्य के इतिहास में विषयवस्तु के ही परिवर्तन की कुंजी नही देता बल्कि 'रूपतत्व' को विकास का भी सूत्र बताता है। द्वन्द्वात्मक प्रणाली की यह एक खास विशेषता है कि वह किसी वस्तु व्यक्ति, घटना और विचार को अन्य वस्तुओं, व्यक्तियों, घटनाओं और विचारों के अविभाज्य, गतिशील, परिवर्तनकारी

और क्रमबद्ध संदर्भ में देखती है और उनके अन्तर्विरोधों और असंगतियों को स्पष्ट करती है।

स्पष्ट है कि समाजशास्त्रीय चिंतन 'यथास्थितिवाद' का घोर विरोधी है। इसकी एकमात्र वजह है प्रगतिशीलता। वह समय की गति के साथ तादात्म्य रखता है सामाजिक प्रगति की सक्रियता को उजागर करता है। समाजशास्त्रीय चिंतन की अपनी एक आईडियोलोजी है। आईडियोलाजी का आशय वास्तविकताओं को एक खास ढ़ंग से देखना और उनकी विसंगतियों के बीच तार्किक–संगति उत्पन्न करना विचारवाद, मनोगत सांत्वनाओं के सिवा, सामाजिक परिवर्तन का हथियार भी बनता है। कला का वर्गीय चरित्र होता है कला इसी वर्गीय चेतना का प्रतिरूप है। कला की ऐतिहासिक भौतिकवादी व्याख्या के माध्यम से मार्क्स ने सामूहिक–सृजनात्मकता पर अधिक प्रकाश डाला है। इसका प्रयोग समाजशास्त्रीय विचारकों ने व्यापक तौर पर किया है।

समाजशास्त्रीय विचारधारा के अनुसार साहित्यकार अपने परिवेश और युगीन प्रगतिशील चेतना से प्रतिबद्ध है। इसलिए समाजशास्त्रीय समीक्षक 'सोशल इन्वाल्वमेन्ट' की माँग करता है। उसका कहना है कि प्रचलित विचारों एवं अभिवृत्तियों प्रचलित संस्थानों एवं सामाजिक संगठनों समसामयिक जीवन के आम अहसास और उसकी बुनावट से साहित्य का एक संश्लिष्ट सम्बन्ध होता है। यह संशिलष्टता जितनी अधिक होगी साहित्य उतना ही उत्कृष्ट होगा। मानवीय चेतना को सामाजिक चेतना की विशिष्टता देकर उसे सामाजिक और क्रान्तिकारी

चेतना में रूपान्तरित करने का श्रेय समाजशास्त्रीय चिंतन को है। वस्तुतः प्राकृतिक मनुष्य के 'सामाजिक–ऐतिहासिक' मनुष्य के रूप में उभारना अर्थात् उसे सम्पूर्ण सामाजिक संदर्भ की यथार्थता में देखना मार्क्सवादी विचार की एक खास शर्त है। इसका पूरा निदर्शन समाजशास्त्रीय चिंतन में लक्षित किया जा सकता है।

इसके अतिरिक्त मार्क्सवाद में 'व्यक्ति स्वातन्त्र्य' के स्थान पर 'मानव मुक्ति' की चेतना प्रधान है यह भावना सामाजशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य में महत्वपूर्ण है। समाजशास्त्रीय विचारक सामूहिक मुक्ति में ही 'व्यक्तिमुक्ति' मानता है वर्ग संघर्ष की मूल अवधारणा पर आघृत यह विशिष्टता अपना अलग महत्व रखती है जो कि साहित्य को और की विशिष्ट बनाती है।

समाजशास्त्रीय समीक्षा के स्वरूप और मानदण्डों को कुछ बिन्दुओं में देखा जा सकता है–

1. समाजशास्त्रीय समीक्षा का मूलाधार मार्क्स की चिन्तन परम्परा का समृद्ध स्वरूप है।

2. समाजशास्त्रीय समीक्षा जीवन दृष्टि पर आघृत है, जिसमें साहित्य की सौन्दर्यमयी व्याख्या जीवन के मूल्यों से जुड़ी हुई है।

3. आर्थिक सम्बन्धों की आधारशिला पर टिकी समाजशास्त्रीय समीक्षा नये संदर्भो एवं मूल्यों की तलाश है।

4. सामाजिक विचारों और मानदण्डों को अपनाकर सृजनधर्मी रचनाकार/आलोचक समाजशास्त्रीय परिधि में आते हैं।

5. मानवीय भावनाओं और विचारों की सार्थक तथा सौन्दर्य पूर्ण सबल भाषाभिव्यक्ति समाजशास्त्रीय समीक्षा का मान है।

6. समाज–सापेक्ष संबन्धों की परिभाषा और जीवनगत मूल्यों की सार्थक तलाश समाजशास्त्रीय समीक्षकों का दायित्व है।

7. ऐतिहासिक भौतिकवाद और वर्ग संघर्ष की मूल चेतना से ही अनुप्राणित समाजशास्त्रीय चिंतन परम्परामुक्ति की चेतना को प्रश्रय देता है।

8. क्रान्ति की चेतना और संघर्ष का मूल्यांकन समाजशास्त्रीय चिंतन का व्यापक आधार है।

9. मनुष्य की कलात्मक चेतना के विकास तथा कला एवं सामाजिक सम्बन्ध को निरूपति करने का श्रेय समाजशास्त्रीय चिंतकों को है।

10. समाज की व्यापकता के परिप्रेक्ष्य में भाषा की तार्किक और क्रान्तिपूर्ण योजना समाजशास्त्रीय आलोचक का औजार है।

ये बिन्दु समाजशास्त्रीय समीक्षा के रूप को संक्षेप में स्पष्ट करते हैं। समाजशास्त्रीय समीक्षा का कलेवर व्यापक है। पाश्चात्य झंकार से गुंजरित यह पद्धति हिन्दी में भी खुलकर प्रयुक्त हुई है। प्लेखनोव, एंगेल्स, लेनिन,

वैंलिंस्की, रैल्फफाल्स, हावर्ड, लुकाच, वेबर आदि पाश्चात्य समीक्षकों से लेकर डॉ0 राम विलाश शर्मा, शिवदान सिंह चौहान, अमृतराय, रांगेय राघव, डॉ0 नामवर सिंह, डॉ0 रघुवंश आदि तक इस समीक्षा परम्परा का व्यापक दर्शन होता है। पाश्चात्य एवं भारतीय दोनों ही मतों में इस पद्धति ने जीवन मूल्यों की नये सिरे से पहचान की है। समाज सापेक्ष कृति की विवेचना और उसका मूल्यांकन इस पद्धति की अपनी देन है। समाजशास्त्रीय समीक्षकों ने मार्क्सवादी जीवन–सिद्धांतों की नई व्याख्या करते हुए साहित्य को नई दिशा दी। साहित्य और विचारधारा तथा कला के नये पहलू इस सिद्धांत द्वारा उभरे।

समाजशास्त्रीय समीक्षा सामाजिक सम्बन्धों के परिप्रेक्ष्य में सामाजिक जीवन के प्रक्रिया के अन्तर्गत, साहित्य के विविध पक्षों का आख्यान सामाजिक क्रिया के रूप में करती है। समाजशास्त्रीयों की दृष्टि में साहित्य का स्वरूप संस्थात्मक है। जैसे अन्य सामाजिक संस्थायें अपने सदस्यों को दिशा निर्देश करती है, उन्हें किन्ही मूल्यों और आदर्शो के प्रति उन्मुख करती है वैसे ही साहित्यकार भी अपनी रचनाओं के माध्यम से अपने पाठकों (सामाजिकों) को किन्हीं आदर्शो और मूल्यों के प्रति सचेष्ट करता है। साहित्यकार भी व्यक्ति और समाज के बीच अन्तःसम्बन्ध स्थापित करता है।

वस्तुतः समाजशास्त्रीय समीक्षा स्वयं विकास के अनेक सोपानों से होकर आगे बढ़ी है। यही स्थिति मार्क्सवादी समीक्षा की भी है। यदि पूरे समाजशास्त्रीय चिंतन को ऐतिहासिक भौतिकवाद की सीमा में नहीं लाया जा

सकता तो समूची समाजशास्त्रीय समीक्षा को भी मार्क्सवादी समीक्षा की परिधि में नहीं लाया जा सकता यह अवश्य है कि जैसे समाज के अनुशीलन का सही सिद्धांत 'ऐतिहासिक भौतिकवाद' को माना जा सकता है वैसे ही मार्क्सवादी समीक्षा को समाजशास्त्रीय समीक्षा के रूप में माना जा सकता है। कुछ भी हो, लेकिन इतना तो मानना ही पड़ेगा कि हिन्दी की समाजशास्त्रीय समीक्षा ने प्रचलित परिपाटी तोड़कर भाषा के नये रचनात्मक रूप को प्रस्तुत करने के साथ आलोचना के मान स्थिर करने में बहुत सहायता दी। इस दिशा में भावी सार्थक प्रयास की आवश्यकता है।

परिशिष्ट :

(क) पत्र एवं पत्रिकायें :

1. क ख ग जनवरी 1964–डॉ0 राम स्वरूप चतुर्वेदी
2. नंगों भूखों का गाना–माधुरी, सन् 1984 हिन्दी कविता का भविष्य रूपाभ वर्ष–1
3. आलोचना–जुलाई, 1952
4. आलोचना सम्पादकीय, 1952
5. आलोचना अंक–4, 1966
6. पहल अंक–7
7. साहित्य संदेश, जनवरी–फरवरी, 1963
8. हँस, सितम्बर, 1938 अंक–5
9. आलोचना, अक्टूबर, 1982
10. जनवादी लेखक संघ घोषणा पत्र तथा संविधान

11. नई चेतना अंक–4
12. आलोचना अंक–3
13. उत्तरार्द्ध
14. वाम अंक–4
15. उत्तरगाथा
16. माधुरी अगस्त, 1923

(ख) उपजीव्य एवं उपस्कारक ग्रंथों की सूची :

1. भारतीय समीक्षा
2. नाट्य शास्त्र
3. कालिदास और उनकी कविता
4. हिन्दी नव रत्न
5. चिन्तामणि प्रथम भाग
6. साहित्य धारा–प्रकाश चन्द्र गुप्त
7. साहित्यानुशीलन–शिवदान सिंह चौहान
8. प्रगति और परम्परा–डॉ0 राम विलास शर्मा
9. आधुनिक हिन्दी कविता में प्रेम और श्रृंगार
10. नई समीक्षा–अमृत राय
11. जनवादी हिन्दी समीक्षा–चंचल चौहान
12. इतिहास और आलोचना–डॉ0 नामवर सिंह
13. साहित्य की परख –शिवदान सिंह चौहान
14. नया हिन्दी साहित्य
15. हिन्दी साहित्यकोष
16. हिन्दी काव्यशास्त्र का इतिहास
17. हिन्दी साहित्य में काव्य रूपों के प्रयोग
18. पाश्चात्य साहित्यालोचन और हिन्दी पर उसका प्रभाव
19. प्रतिक्रियायें
20. आधुनिक साहित्य

21. सामयिक
22. भ्रमर गीत–सार
23. आलोचना इतिहास तथा सिद्धांत
24. त्रिशंकु
25. संस्कृति और साहित्य
26. आलोचना उपन्यास विशेषांक, 1954
27. साहित्य की समस्यायें–शिवदान सिंह चौहान
28. प्रेमचन्द घर में
29. अभिनव भारती
30. काव्य प्रकाश आचार्य विश्वेश्वर
31. साहित्य का नया परिप्रेक्ष्य–डॉ0 रघुवंश
32. परम्परा और आधुनिकता
33. आधुनिक युग में धर्म
34. भारतीय साहित्यशास्त्र भाग–2
35. तुलसी ग्रंथावली
36. कबीर ग्रंथावली
37. सूर सागर
38. प्रिय प्रवास
39. ग्रंथावली
40. भारतेन्दु ग्रंथावली, प्रथम भाग
41. मिश्र बन्धु विनोद, द्वितीय भाग
42. काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध
43. क्षणदा
44. गद्य पथ
45. आलोचना के सिद्धान्त
46. नया हिन्दी साहित्य एक दृष्टि
47. कालिदास का भारत भूमिका

48. साहित्य मुखी
49. रीति के फूल
50. साहित्य का उद्देश्य–मुंशी प्रेमचन्द
51. आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियाँ–डॉ0 नामवर सिंह
52. हिन्दी आलोचना पहचान और परख
53. दूसरी परम्परा की खोज–डॉ0 नामवर सिंह
54. साहित्य कला समीक्षा–मन्मथ नाथ गुप्त
55. जनवादी समीक्षा नये चिन्तन, नये प्रयोग
56. समीक्षा दर्शन
57. समकालीन चिन्तन
58. प्रगतिशील साहित्य की समस्यायें–डॉ0 रामविलाश शर्मा
59. प्रेमचन्द और उनका युग–डॉ0 रामविलाश शर्मा
60. भारतेन्दु युग–डॉ0 रामविलाश शर्मा
61. भाषा साहित्य और संस्कृति
62. स्वाधीनता और राष्ट्रीय साहित्य
63. लोक जीवन और साहित्य–डॉ0 रामविलाश शर्मा
64. राष्ट्रभाषा की समस्या
65. विराम चिन्ह
66. कवि 'निराला'
67. निराला साहित्य साधना, प्रथम खण्ड
68. आचार्य राम चन्द्र शुक्ल और हिन्दी आलोचना
69. परम्परा का मूल्यांकन–डॉ0 रामविलाश शर्मा
70. स्वाधीनता और राष्ट्रीय स्वतन्त्रता
71. प्रगति और परम्परा
72. मैं इनसे मिला, प्रथम भाग
73. आलोचना के मान
74. आज का हिन्दी साहित्य

75. साहित्य संदेश
76. हिन्दी साहित्य के अस्सी वर्ष
77. नया साहित्य 'एक दृष्टि'
78. हिन्दी साहित्य की जनवादी परम्परा–प्रकाश चन्द्र गुप्त
79. नया साहित्य, नई दृष्टि
80. सिद्धान्त और समीक्षा
81. साहित्य और संयुक्त मोर्चा
82. खून के छींटे इतिहास के पन्नों पर, आमुख–भगवत शरण उपाध्याय
83. प्रगतिवाद की रूपरेखा
84. नाट्य समीक्षा
85. छायावाद
86. कविता के नये प्रतिमान
87. आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियाँ–डॉ0 नामवर सिंह
88. कुछ विचार
89. कर्मभूमि
90. मुक्तिबोध प्रतिबद्ध कला के प्रतीक
91. सौन्दर्यशास्त्र
92. समकालीन चिन्तन
93. भारत और रूस साहित्यिक संगठन
94. सूर तुलसी ससि उडगन केशवदास, अब के कवि खद्योत् सम जंह तंह करत प्रकाश
95. उपमा कालिदासस्य भारवे अर्थ गौरवम्, दण्डिनः पद लालित्य माप्ये सन्ति त्रयोगुणः

अंग्रेजी पुस्तकें :

1. Literature and Art-Karl Marks
2. Life and Literature-M.Gorky
3. History of Criticism and Literature-George Saints Bury

4. A History of Modern Criticism-Renawellek
5. Literary Criticism a short Hostory-W.Wim Satt
6. Principal of Literary Criticism-T.A. Richards
7. The Literary Criticism-George Watson
8. Collected Essays in Literary Criticism-Herbert Read
9. Selected Literary Criticism-D.N. Lawrance
10. Literary Criticism in India-Dr. Nagendra

---

1. Selected works.
2. Philosophy of Literature and Criticism
3. Selected Speeches and Articles
4. Selected work, Vol.-2
5. Literature and Reality
6. Culture and People
7. Marxist Philosophy
8. Marx and Angeles Selected works
9. On Dialectical and Historical Materealism
10. The Path of Socialist Literature and Art in China
11. The History of Asthetics
12. History of English Leterature
13. Introductory Literature on Psychology
14. Making of Literature
15. Literature of United States
16. Illusion and Reality
17. What is dialectical materialism
18. Writings of young-Marx
19. The poverty of philosophy
20. Dialatics of Nature

21. On Literature
22. Literature and Life 'Preface'
23. Art and Social life
24. On Art and Literature
25. Novel and the People
26. The protesthetic and the spirit of capitilism
27. Elementory cause in philosophy
28. Dialectical materialism